अन्धा युग
एक सृजनात्मक उपलब्धि

लेखक

सुरेश गौतम

साहित्य - प्रकाशन

मालीवाड़ा, दिल्ली-6

अन्धा युग : एक सृजनात्मक उपलब्धि

आवृत्ति : 1973

मूल्य : बीस रुपया

प्रकाशक : साहित्य-प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली-6

मुद्रक : युगान्तर प्रेस, मोरीगेट, दिल्ली-6

ANDHA YUG EK SRIJNATMAK UPLABDHI

By Suresh Gautam

भूमिका

'अन्धा युग' पौराणिक प्रख्यात कथानक पर आधृत आधुनिक संवेदना और आधुनिक भावबोध की बहुचर्चित कृति है। डा० धर्मवीर भारती की मेधा और प्रतिभा का यह सुन्दरतम निदर्शन है। इसके प्रकाशित होते ही प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान इस कृति की ओर गया और जो समीक्षाएँ प्रकाश में आईं उनमें मिथक के आरोपण पर आलोचकों ने कुछ आक्षेप किये थे। वस्तुतः पौराणिक कथा या मिथक का आवरण ही 'अन्धा युग' के प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य का कारण है। अन्धे चरित्र या अन्धी युग-दृष्टि को विवृत करने के लिए मिथक का आश्रय जिस कौशल के साथ इस कृति में स्वीकृत हुआ है वही इस दृश्य काव्य को विचार और चिन्तन के स्तर पर स्तुत्य बना देता है।

भारती ने गीति-नाट्य-शैली को स्वीकार कर 'अन्धा युग' के पात्रों की अवतारणा की है। 'अन्धा युग' के संवाद और उनकी गूढ़ाशय पूर्ण अभिव्यक्ति ऊपर से देखने में सीधी-सादी लगती है किन्तु पाठक ज्यों-ज्यों उनके अन्तर में पैठता है त्यों-त्यों अत्याधुनिक भाव-बोध के स्तर खुलते जाते हैं। जीवन-आशा के सारे कुसुम बिखर जाने के बाद मृगतृष्णा में भटकते हुए मानव को कोई आश्रय नहीं मिलता। उसका भटकाव निरन्तर बढ़ता जाता है, उसके प्रश्न इधर-उधर घूम-फिर कर लौट आते हैं और वह स्वयं प्रश्नों की मरीचिका में, उत्तरों समाधानों का शीतल जल पाना चाहता है। जीवन की इस विडम्बना को 'अन्धा युग' के पात्रों ने भली भाँति व्यक्त कर दिया है। आधुनिक युग के सन्दर्भ में इस पौराणिक आख्यान को नवीन बोध से सम्पृक्त करने की दृष्टि कवि पा सका है। यही इस कृति की सफलता है।

श्री सुरेश गौतम ने इस कृति को समझाने-परखने का प्रयास अपने लघु-शोध-प्रबन्ध में किया है। शोध-प्रबन्ध की एक मर्यादा होती है। उसके भीतर रहकर लेखक को अपने विचार व्यक्त करने होते हैं। इस मर्यादा का पालन करते हुए श्री गौतम ने विविध पहलुओं से इस कृति का अवगाहन-अध्ययन किया है। आठ अध्यायों में विभाजित करके उन्होंने कथा-स्रोत से आरम्भ करके इसके प्रतीक-विधान, पात्र-परिकल्पना, अभिव्यंजना-शिल्प, रंगमंचीयता आदि पक्षों पर दृष्टि निक्षेप करते हुए इस कृति के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

श्री सुरेश गौतम का यह प्रथम प्रयास है। प्रथम प्रयास होने के कारण यह न समझा जाय कि उनके विवेचन में गाम्भीर्य नहीं है। विवेचन-विश्लेषण के स्तर पर यह अध्ययन श्लाघ्य है और उनकी स्थापनाएँ अत्यन्त महत्त्व रखती हैं। मैं इस सफल प्रयास के लिए श्री गौतम को साधुवाद देता हूँ। मुझे विश्वास है कि उनका लेखन-क्रम इसी प्रकार सतत् चलता रहेगा और भविष्य में वे अच्छी और गम्भीर रचनाओं से हिन्दी साहित्य की पूर्ति कर सकेंगे।

2-7-73

विजयेन्द्र स्नातक
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली

मुख-बोध

साहित्य की किसी भी महान् कृति को आलोचनात्मक कसौटी पर समग्रतः एवं सविस्तार परखना किसी भी आलोचक के लिए एक दुःसाहसपूर्ण कदम होता है और फिर साहित्य के प्रारम्भिक अध्येता के लिए तो यह पग उठाना अपने आप में अत्यन्त चुनौतीपूर्ण कार्य ही हो सकता है। किन्तु यह चुनौती तो उस अध्येता को अपने भावी-जीवन में कभी न कभी स्वीकार करनी ही होगी फिर अब क्यों नहीं ?

'अन्धायुग' का कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक है और उसकी संवेदना अत्याधुनिक। इस संवेदना ने एक ओर कथानक की रेखाओं को संदर्भों के जटिल बिन्दुओं में घोल दिया है तो दूसरी ओर पात्रों (चरित्रों) को प्रतीक अथवा मानवीय संदर्भ में पर्यवसित कर दिया है। इस कारण कथानक और चरित्र-चित्रण की रूढ़ियों और पद्धतियों को यह कृति तोड़ती है और नाटक की रूपरचना के लिए नए उपकरणों और शैलियों का अनुसन्धान करती है।

दृष्टिगोचर परिस्थितियों की उलझन में से बुद्धिगम्य वास्तविकता को उभारने के प्रयत्न में जहां इस कृति की भाषा बहुत सहज जान पड़ती है, वहीं अमित व्यंजनाओं से गर्भित है। भाषा में विद्यमान इस छल का प्रयोग करते हुए भारती ने युग-जीवन के यथार्थ का उद्‌घाटन करने वाली भाषा के नए रचनात्मक पैटर्न खोजे हैं।

अतीत, वर्तमान और भविष्य की सीधी रेखा में बहने वाले समय को इस कृति ने वर्तमान के बिन्दु में ही संक्रमित कर और घटना-स्थल की धारणा को स्थूल न मान कर उसे मानसिकता के सांचे में ढाल दिया है। देश और काल की इस नई धारणा के कारण ही 'अन्धायुग' की रचनाशीलता पर्याप्त जटिल हो गई है।

इस प्रकार कई स्तरों पर 'अन्धायुग' का अध्ययन पर्याप्त और सक्षम विश्लेषण की मांग करता है किन्तु मुझे तो सिर्फ उन कठिनाइयों का आभास है जो इस अध्ययन-क्रम में उभरी हैं। अतः इसे साहित्य के एक प्रारम्भिक अध्येता का बालसुलभ प्रयास ही समझा जा सकता है। वस्तुतः किसी भी कार्य की समाप्ति की मंजिल पर पहुंच कर कर्त्ता को एक ऐसे क्षण-विशेष के साथ साक्षात्कार करना पड़ता है जहां तक वह मंजिल तक पहुँचाने वाले सोपानों के प्रति मन ही मन नत हो जाता

है। मेरी इस लघु-निबन्ध यात्रा में जिन विद्वानों की कृतियों का अमूल्य पाथेय उपलब्ध हुआ उनके अतिरिक्त परम सम्माननीय श्री गिरीश बक्शी, डा० कृष्णदत्त पालीवाल, डा० नित्यानन्द तिवारी के उन्मुक्त सहयोग के प्रति सादर आभार अभिव्यक्त करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। परम अन्तरंग श्री दर्शनलाल सचदेव तथा अनुज एवं सखा रमेश गौतम के संग-संग सहपाठिनी कु० सरला जैन के असीम स्नेह-सहयोग के अतिरिक्त सहधर्मिणी वीणा गौतम की सतत् प्रेरणा के बिना इस बाल-प्रयास की पूर्ति की कल्पना करना भी असम्भव हो जाता।

विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डा० स्नातक ने पुस्तक की भूमिका के रूप में जो साधुवाद दिया है वह मेरा भावी पथ-निर्देश करता रहेगा। इसी आशा सहित—

3-7-73

सुरेश गौतम
ए 13/3 राणा प्रताप बाग
दिल्ली-110007

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

'अन्धा-युग' के कथा-स्रोत

किसी भी काव्य की कथावस्तु प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र—तीन प्रकार की होती है। इस दृष्टि से 'अन्धा युग' की कथावस्तु को उत्पाद्य या मिश्र न कह कर प्रख्यात कथा ही कहना चाहिए। कवि ने यहाँ पर महाभारत की कथा का आधार ग्रहण करते हुए अपने कथ्य को प्रस्तुत किया है। यह सर्जना महाभारतोपजीवी होते हुए भी नवीन जीवन-बोध से अनुप्राणित है। आधुनिक जीवन के विषाद और विसंगति को व्यक्त करने का यह कथा समर्थ माध्यम बनी है। कथा में यदि कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तन या कलात्मक उद्भव है भी तो वह प्रायः पात्रों की युगानुकूल भावभूमि प्रणयन के नाते ही है अर्थात् दो चार कल्पित पात्रों के अतिरिक्त—जिनमें अधिकांश का ऐतिहासिक अस्तित्व भी सम्भव है—कथा में किया गया कोई भी अन्य परिवर्तन आधुनिक जीवन-बोध को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया है।

कथा-स्रोत पर विचार करने पर हम 'अन्धायुग' की कथावस्तु को महाभारत के 'गदापर्व' से लेकर 'मौसल पर्व' तक अर्थात् 'गदापर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व व मौसल पर्वों में एवं तत्तत पर्वों के अन्तर्वर्तिपर्वों में बिखरी हुई पाते हैं। लेखक ने अधिकांश कथावस्तु का रूपान्तरण के समान चित्रण किया है तथा कहीं-कहीं युगानुकूलता के सांचे में ढालने को उसमें थोड़ा बहुत सुन्दर परिवर्तन या विपर्यय कर दिया है जैसा कि दृश्य-काव्यकार के नाते उसका पूर्ण और सुरक्षित अधिकार है। उदाहरण के लिए—पर्दा उठने पर हम कौरव नगरी के अन्तःपुर में कुशासन बिछाए सादी चौकी पर बैठे चिन्तातुर धृतराष्ट्र तथा गान्धारी एवं विदुर को पाते हैं। महाराज धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र से युद्ध के सन्देशवाहक संजय की प्रतीक्षा में व्यग्र हैं, क्योंकि आज ही युद्ध की अन्तिम विजय या पराजय का सन्देश आने वाला है। धृतराष्ट्र के ललाट पर अतीव व्यग्रता एवं व्यथा की रेखाएं गहरी होती जा रही हैं। जीवन में प्रथम बार अपने पुत्र की सम्भावित पराजय की आशंका से अभिभूत दुश्चिन्ता उन्हें कचोट रही है। वे विदुर से कहते हैं—

'विदुर।
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है।'[1]

किन्तु विदुर उन्हें इस पूर्वविबोधित सत्य की चेतावनी देते हुए कहते हैं—

'भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था,...
गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।'[2]

कथा के आधारभूत महाभारत के गदापर्व स्थित 63वें अध्याय में युद्ध में सम्पूर्ण कुल क्षयान्तर धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण को राजा धृतराष्ट्र व माता गान्धारी को समाश्वसन देने भेजते हैं और श्रीकृष्ण महाराज धृतराष्ट्र को युद्ध-पूर्व मर्यादोल्लंघन का दोषी बताते हुए उन्हें आश्वासित करते हैं—

'समुहूर्तादिवोत्सृज्य वाष्पं शोक समुद्भवम्।
प्रक्षाल्य वारिणा नेत्रे-ह्याचम्य च यथाविधि।...
त्वया कालोपसृष्टेन-लोभतो नापवर्जिताः
तवा पराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम्॥...
धर्मतो न्यायतश्चैव--स्नेहतश्च परंतप।
एतत् सर्वं तुवि ज्ञाय-ह्यात्मदोष कृतं फलम्॥[3] इत्यादि।

इसी अपराध का उत्तरदायित्व महाराजा धृतराष्ट्र 'अन्धा युग' तथा महाभारत के स्त्री पर्व में अपने ऊपर लेते हुए विदुर के समक्ष स्वीकारते हैं कि—

'समझ नहीं सकते हो विदुर तुम
मैं था जन्मान्ध...
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी, मर्यादा थी।'[4]

इसी अपराध की स्वीकृति महाराज धृतराष्ट्र महाभारत में करते हुए कहते हैं—

'हतपुत्रो हतामात्यो हतसर्व सुहृज्जन :।
दुखं नूनं भविष्यामि विचरन्पृथिवीमिमाम्॥...
...तत्मामधैव पश्यन्तु पाण्डवाः संशित व्रताः।
विवृतं ब्रह्मलोकस्य दीर्घमध्वानमास्थितम्॥[5]

1. अन्धायुग : भारती, पृ० 16
2. वही, पृ० 17
3. महाभारत : व्यास : गदापर्व, अध्याय 63, पृ० 119, 120, श्लोक 39 से 50
4. अन्धायुग : भारती, पृ० 17, 18
5. महाभारत : व्यास : स्त्री पर्व : पृ० 1, 2 : श्लोक 10 से 21

कथा-बन्ध को जीवन्त बनाने के लिए यहाँ 'महाभारत' के कोरे नकली रूप को बहिष्कृत रखा गया है। कथा का भावानुवाद या छायानुवाद ग्रहण करते हुए कवि ने अपनी सर्जक मौलिकता का परिचय दिया है। कथा में मौलिकता, नवीनता, ऐतिहासिकता के हाथों में परास्त कहीं नहीं है। कथा ने युग के विषाद को व्यक्त करने के लिए तट चाहे तोड़ दिया हो, लेकिन कथा का तल कहीं भी बदला हुआ दृष्टिगत नहीं होता। प्राचीन कथा का यह मेरुदण्ड निश्चय ही अपने अनेक सोपानों से गुजर कर भी ठहराव तथा जड़ता की स्थिति में नहीं पहुँचा है। कवि ने प्रख्यात कथा को प्रतीकात्मक मोड़ दिया है और महायुद्धीय विभीषिका के बोध को खुलकर व्यक्त किया है।

महाभारत के स्त्री पर्व के सत्रह से चौबीस अध्यायों में अपने शत पुत्रों की, हृदय को खण्डश: विभक्त करने वाली, द्रावक मृत्यु तथा सम्पूर्ण कुलक्षय पर मन के तारों को झिझोड़ कर अचिन्त्य वेदना से तप्त विलाप करती हुई गान्धारी जहां कृष्ण के सम्मुख नैसर्गिक स्त्री-सुलभ विलाप मात्र करके मूर्च्छा की क्रोड़ में विश्राम पाती है वहाँ पच्चीसवें अध्याय में पुत्रशोकोन्माद जनित विक्षोभ और क्रोध के पाश में छटपटाती, आक्रोश से उत्पन्न विकृत भावों के वशीभूत हो उबलती हुई कृष्ण को कटु अभिशाप देती है। 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर उसका शब्दचित्र भारती ने प्रारम्भिक स्त्री-सुलभ अबला रूप को युगानुकूल स्वाभिमानिनी नारी-युगदर्शन रूप में ढाल कर तथा क्रोधोन्मादी रूप का यथातथ्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब-सा चित्रण किया है। गान्धारी का महाभारत में अबला रूप देखिए—

> 'समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत्।
> उपस्थितेऽस्मिनन्सं ग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो···
> इत्येवमब्रुवं पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो।
> धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हृतबान्धवम् ।।'[1]

महाभारत की पंक्तियों के समानान्तर 'अन्धा युग' की पंक्तियों का मूल्यांकन भी अभीष्ट है···

> 'लेकिन अन्धी नहीं थी मैं
> मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
> धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र···
> इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी।'[2]

कथान्विति रखते हुए कवि ने विदुर, गान्धारी आदि पात्रों में सम्बन्धित प्रतीक कथाओं का विस्तार किया है। यह कथा-विस्तार हास्यास्पद न होकर

1. महाभारत : व्यास : स्त्री पर्व : अध्याय 17 ; पृष्ठ 20 : श्लोक 5 से 9
2. अन्धायुग : भारती : पृ० 21

प्रभावक्षमता की वृद्धि करता है। कथा में प्रभावान्विति तथा भावान्विति दोनों को सन्तुलन के बिन्दु से जोड़ा गया है। यह कथा फैलती या सिकुड़ती नहीं रही है अपितु उसमें अपनी बात को अधिक बल देकर कहने की क्षमता उत्पन्न हुई है। महाभारत में गान्धारी का क्रोधोन्मादी रूप भी कम मुखर नहीं—

'इत्युक्त्वा न्यपतत्द्भूमो—गान्धारी शोकमूछिता।
दुःखो पहत विज्ञाना धैर्यं मुत्सृज्य भारत ॥···
तवाप्येवं हतसुता निहतज्ञाति बान्धवाः।
स्त्रियः परिपतिष्यन्ति यथैता भरतस्त्रियः ॥'[1]

'अन्धा युग' पर दृष्टिपात करते ही उक्त आधारभूत कथा का निम्नोक्तियों में अधिकांश भाग मुखरित है—यथा,

'किया है यह सब कुछ कृष्ण
तुमने किया है यह···
प्रभु हो, पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।'[2]

परन्तु उक्त कथा-स्रोत में कुशल काव्यकार भारती ने अपनी कुशल कल्पनामयी प्रतिभा का प्रयोग कर युगपुरुष या युगप्रभु कृष्ण के चरित्र को सर्वोच्च व उदात्त भावभूमि पर स्थिर करते हुए इस अभिशाप को कृष्ण द्वारा नतमस्तक स्वीकार कराया है, जबकि महाभारत में कृष्ण इस विनाश का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर गान्धारी पर ही डाल देते हैं—

'माता।
प्रभु हूँ या परात्पर···
···तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ।
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।'[3]

महाभारत में—

'दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः।
संहर्त्ता वृष्णि चक्रस्य नान्यो मद्विद्यते शुभे ॥
अवध्यास्ते नरन्यैरपि वा देवदानवैः।
पारस्परकृतं नाशं यतः प्राप्स्यन्ति यादवाः ॥'[4]

महाभारत के स्त्री पर्व के पश्चात् 'श्राद्ध पर्व में—

1. महाभारत : व्यास : स्त्री पर्व : अध्याय 25 : पृ० 29 : श्लोक 37 से 46
2. अन्धायुग : भारती : पृ० 99, 100
3. वही : पृ० 100
4. महाभारत : व्यास : स्त्री पर्व : पृ० 30, श्लोक 48, 49

'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारी मा च शोके मनः कृथाः
तवैव ह्य पराधेन कुरवो निधनं गताः ।।...
...मृतं वा यदि वा नष्टं यो तीतमनुशोचति
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ।।'[1]

और गान्धारी भी मौन हो इस अपराध के समक्ष अपना शीश झुका देती है। जैसे महाभारत स्त्री पर्व के पन्द्रहवें अध्यायस्थ श्लोक 40 से 44 तक में द्रौपदी, सुभद्रा, भानुमति इत्यादि कुरुकुल वधुओं को समाश्वस्त करती हुई कहती है—

'ताम् वाचाथ गान्धारी सहवध्वा यशस्विनी...
मैवं पुत्रीति शोकार्त्ता पश्य मामपि दुःखितां ।...
...यथैवाहं तथैव त्वं को वा माश्वासयिष्यति ।
ममैवह्यपराधेन कुलमग्रयं विनाशितम् ।।'[2]

'अन्धा युग' में प्रस्तुत कथा को आधारभूत महाभारत से थोड़ा सा कल्पना-प्रसूत परिवर्तन करके भारती ने गान्धारी के चरित्र में युगानुकूल स्वाभिमानिनी नारी की गरिमा प्रस्तुत की है, यद्यपि वह अगले ही क्षण अपने दिए अभिशाप पर स्वयं ही पश्चाताप करती हुई अपने नारी सुलभ कोमल अबला रूप को ही प्रगट कर देती है।

अब लीजिए—मुख्यकथा द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा की बर्बर पशु-सी सुप्त जन-संहार लीला, जिसे केवल थोड़े से शिवपूजा स्थलगत परिवर्तन के साथ चतुर लेखक ने मानों श्रव्यकाव्य महाभारत का सुन्दर दृश्य-काव्य में रूपान्तरण ही कर दिया है। उदाहरण के लिए महाभारत में अश्वत्थामा के पाण्डव-पांचाल विनाश निश्चय का शब्द-चित्र परिलक्षित कीजिए—

'क्रोधामर्षशतं प्राप्तो द्रोणपुत्रस्तु भारत ।
न वैस्म सजगामाघ निद्रां सर्पश्वश्वसन् ।।...
...न चाप्यत्र भवेद् वाक्यं गर्हितं लोकनिन्दितम् ।
कर्तव्यं तन्मनुष्येण—क्षात्रधर्मेण वर्तता ।...
...निन्दितानिव सर्वाणि कुत्सितानि पदे पदे ।
सोपधानि कृतान्येव पाण्डवेर कृतात्मभिः ।।'[3]

इस विस्तृत दृश्य को जिसमें अपने पिता की तथा महाराजा दुर्योधन की अधर्म से की गई अमानवीय हत्या पर विक्षुब्ध अश्वत्थामा शत्रु-विनाश का मार्ग व समाधान भी पा लेता है, जिसे भारती ने अपने 'अन्धा युग' में अधिकांश सूच्य दिखला कर केवल चार-छः पंक्तियों में ही प्रगट कर दिया है—

1. महाभारत : व्यास : श्राद्ध पर्व : पृ० 30, श्लोक 1 से 4
2. वही : स्त्री पर्व : पृ० 17, 18 : श्लोक 40 से 44
3. वही : सौप्तिक पर्व : पृ० 2 : श्लोक 33 से 52

'कितना सुनसान हो गया है वन
जाग रहा हूँ, केवल मैं ही यहाँ
इमली के, बरगद के, पीपल के
पेड़ों की छायाएँ सोई हैं...'[1]

फिर सारा दृश्य—बरगद के पेड़ पर सोए वायस समूह का उलूक द्वारा विनाश सूच्य दिखा कर जैसे ही उलूक कव्वे के कटे पंख लेकर वधोल्लास का ताण्डव करता है, अश्वत्थामा भी अहसास कर चीख उठता है—

'मिल गया, मिल गया
मातुल मुझे मिल गया।'...[2]

तत्पश्चात् अश्वत्थामा के पाण्डव-शिविर में पहुँच कर उसके द्वारा किए गए प्रायः सभी शत्रु संहारात्मक तथा स्वदुष्कृत्य समाधानात्मक दृश्यों में तो केवल भगवान् शिव के प्रारम्भिक अवरोध तथा फिर सन्तुष्ट हो अश्वत्थामा को वरदान देने के दृश्यों में तनिक से परिवर्तन को छोड़ प्रायः सम्पूर्ण कथावस्तु में महाभारत व 'अन्धा युग' का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव या रूपान्तरण जैसा साम्य है।

शिवावरोध वरदान के चित्र को व्याख्येय किया जा सकता है। वीर अश्वत्थामा पाशवीवृत्ति धारण करके सुप्त पाण्डव पांचाल वीरों का संहार करने पाण्डव-शिविर में जाते हैं तो उन्हें आगे प्रहरी-सम संरक्षक रूप में भगवान् शिव के दर्शन होते हैं। पहले तो अश्वत्थामा अपने सारे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करता है, किन्तु जब वे सभी अस्त्र-शस्त्र शिव के एक रोम में समा जाते हैं तो अश्वत्थामा आशुतोष शिव को प्रसन्न करने के लिए स्तुति करता हैं, उक्त प्रसंग प्रायः उभयत्र (महाभारत व अन्धा युग) में समान है। यथा—

'तत्रभूतं महाकायं चन्द्रार्क सदृशधुतिम्
सो पश्यद् द्वारमाश्रित्य-तिष्ठन्तं लोमहर्षणम् ॥
× × × ×
अपश्यत्कृतमा काश मना काशं जनार्दनः
तदद्भुततमं दृष्टट्वा-द्रोण पुत्रो निरायुधाः ॥'[3]

तथा- 'न चैतदभि जानामि-चिन्तयन्नपि सर्वथा
ध्रुवं येयं अधर्मे में प्रवृत्ता कलुषा मतिः ॥
× × × ×
सहि देवो त्यगाद्देवान्-तपसा विक्रमेण च
तस्माच्छरणमभ्येमि-गिरिशं शूलपाणिनम् ॥'[4]

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 68
2. वही : पृ० 69
3. महाभारत : व्यास : सौप्तिक पर्व : अध्याय 6 : पृ० 9 ; श्लोक 3 से 18
4. वही : पृ० 10 : श्लोक 30 से 34

महाभारत के उक्त प्रसंग को भारती ने 'अन्धा युग' में कथागायन के माध्यम से अंकित किया है—

'वे शंकर थे, वे रौद्र-वेषधारी विराट
प्रलयंकर थे.........
वे आशुतोष हैं
हाथ उठाकर बोले ।'[1]

जहाँ तक उक्त प्रसंग का सम्बन्ध है, न जाने क्यों प्रतिभाशील दृश्य-काव्य लेखक ने महाभारत स्थित बड़े ही मार्मिक प्रसंग को छोड़ कर बहुत शीघ्र ही आशुतोष शिव से अश्वत्थामा को वरदान दिलवा दिया और प्रलयंकर महाशिव से शक्ति पाकर उस नर-पशु ने शिविरस्थ सम्पूर्ण पाण्डव पांचाल वीरों का संहार कर डाला अर्थात् महाभारत-वर्णन में जब अश्वत्थामा के भयंकरतम अस्त्र-शस्त्रों का भी महाशिव पर कोई प्रभाव नहीं हुआ तो वह अपनी अधर्मयुक्त बर्बर कृत्य-योजना पर कुछ विचलित-सा होता है, कुछ पश्चाताप भी करता है और गद्गद् होकर अपनी शत्रु-विनाश-योजना सम्पूत्यर्थ महाशिव से वरदान-याचना करता है तभी उसके सम्मुख एक प्रज्वलिताग्नियुक्त यज्ञवेदी प्रगट होती है और अश्वत्थामा महाशिव को रिझाने के लिए उस यज्ञवेदी में आहुतिस्वरूप अपनी देह व प्राणों तक की बलि ऐसे ही अर्पण कर देता है जैसे भगवान राम ने महाशक्ति को रिझाने के लिए अपना कमल-नेत्र प्रस्तुत किया था। यदि दृश्य-काव्यकार भारती अपने 'अन्धा युग' में इस दृश्य का भी कुछ पंक्तियों में चित्र प्रस्तुत कर देते तो काव्य में सौन्दर्य-श्रीवृद्धि अधिक होती क्यों कि 'अन्धा युग' का उक्त प्रसंग पढ़कर, दृश्य देखकर पाठक और दर्शक के मन में एक झंझोड़ने वाली-सी शंका उत्पन्न होती है कि जो अश्वत्थामा अभी-अभी अपनी संपूर्ण अस्त्र-शस्त्र शक्ति से महाशिव को पराजित व पराभूत करना चाहता है, वह केवल एक श्लोक की शाब्दिक स्तुतिमात्र से उन्हें कैसे रिझा कर दिव्य-शक्ति व वर प्राप्त कर लेता है ? जबकि महाभारत का वर्णित दृश्य पाठक व दर्शक के मन का पूर्ण समाधान करके उसे देव-शक्ति के प्रति श्रद्धा से गद्गद् आप्लावित करता हुआ चलता है—

'अथ द्रोणिर्धनुष्पाणिर्वद्ध गोधाङ्गु लित्रवान्
स्वयमेवा त्मना त्मानमुपहारमुपा हरत् ॥
× × ×
अथाविष्टो भगवता—भूयोजज्वालनेजसा
वेगवांश्चामवद्युद्धे--देवसृष्टे न तेजसा ॥''[2]

इस परम सुन्दर तथा मार्मिक दृश्य को भारती ने एक श्लोक मात्र की वाचिक

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 77, 78
2. महाभारत : व्यास : सौप्तिक पर्व : अध्याय 7 : श्लोक 52 से 67 : पृ० 12

स्तुति तथा फिर शिव के सरलता से प्राप्त वरदान पर ही समाप्त कर दिया है। यथा—

'जटा कटाह सम्भ्रमंभ्रमन्निलिम्प निर्झरी
विलोल वीचि वल्लरी विराजमान मूर्धनि
धगद्धगद्धगज्ज्वल ल्ललाट पट्ट पावके
किशोर चन्द्र शेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम।'
'वे आशुतोष हैं हाथ उठा कर बोले।'[1]...

कथा में ऐसे अनेक स्थल भी हैं जहाँ 'महाभारत' के पर्वों का अक्षरशः अनुवाद-सा किया गया है। ऐसे स्थल कम हैं और कथा-सौन्दर्य में बाधक नहीं हैं। महाभारत की कथा को दोहराना कवि का उद्देश्य भी नहीं है, फिर भी कथ्य को स्पष्ट करने के लिए कुछ अंशों को हूबहू ग्रहण किया गया है।

अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न व उत्तरा-गर्भ-नाश की प्रतिज्ञा व उसकी पूर्ति के चित्र भी महाभारत और 'अन्धायुग' में एक समानान्तर रेखा में ढले हुए हैं—

'अद्य पांचाल राजस्य धृष्टद्युम्नस्यवे निशि।
न चिरात्प्रमथिष्यामि पशोरिव शिरो बलात्॥

× × ×

'पतिष्यति तदस्त्रं हि गर्भे तस्या मयोधतम्।
विराटदुहितुः कृष्ण यं त्वं रक्षितुमिच्छसि॥'[2]

'अन्धा युग' में—

'कुंजर की भांति, मैं केवल पदाघातों से......
जिसमें गर्भित है, अभिमन्यु पुत्र
पाण्डव-कुल का भविष्य।'[3]

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न-वध का शब्द-चित्र भी प्रभावशाली रूप से भारती ने महाभारत के समान चित्रित किया है—

'पांचाल्यं शयने द्रोणिरपश्यत्सुप्तमन्तिकात्।
क्षौमावदाते महति स्पर्ध्यास्तरण संवृते।

× × ×

मर्मस्वभ्यवधीत् क्रुद्धः पादाष्ठीलैः सुदारुणैः।
तस्य वीरस्य शब्देन मार्यमाणास्य वेश्मनि॥'[4]

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 78
2. महाभारत : व्यास : सौप्तिक पर्व : क्रमशः अध्याय 3 ; श्लोक 34, पृ० 6, अ० 16, श्लोक 7, पृ० 27
3. अन्धायुग : भारती : पृ० 70
4. महाभारत : व्यास ; सौ० पर्व : अ० 8 : श्लोक 13 से 24 ; पृ० 17, 18

'अन्धा युग' में गान्धारी के समक्ष धृष्टद्युम्न की हत्या का दिल हिला देने वाला दृश्य खींचता हुआ संजय कह रहा है—

'शंकर की दैवी असि लेकर अश्वत्थामा……
आँखों के कोटर से दोनों साबित गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गए……
चूर-चूर कर दिए ठोकरों से उसने मर्मस्थल…।'[1]

उत्तरा-भ्रूण-घातक अश्वत्थामा के लिए कृष्ण-शाप-प्रसंग की कथा में भी महाभारत व 'अन्धा युग' में बहुत साम्य है—

"अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति
स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घ मायूरवाप्स्यति ॥
× × ×
भवित्री न हि ते क्षुद्र जनमध्येषु संस्थितिः।
पूयशोणित गन्धी च दुर्गकान्तारसंश्रयः ॥'[2]

'अन्धायुग' में—

'दण्ड उसे दिया भ्रूण-हत्या का कृष्ण ने
शाप दिया उसको……
अंगों पर फोड़े लिये…
पीड़ा जगती रहेगी रोम-रोम में।'[3]

इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्रमोक्षण अर्जुन द्वारा प्रतिमोक्षण, ऋषि व्यासजी का अश्वत्थामा को धिक्कार व अर्जुन द्वारा ब्रह्मास्त्रों का परिसंहार, युगप्रभु भगवान् श्रीकृष्ण का महाप्रस्थान आदि सभी प्रसंगों की कथा प्रायः महाभारत की प्रख्यात कथा के ही अनुरूप चलती है।

समग्रतः कह सकते हैं कि पूर्वोक्त प्रसंगों में भारती ने 'अन्धा युग' के कथानक को अधिकांश रूप में प्रायः महाभारत के प्रख्यात कथानक के अनुरूप ही रखा है। हाँ, कहीं-कहीं युगप्रवृति को घनीभूत अथवा पात्र-विशेष के मनोविज्ञान को बोधता की रेखाओं में बाँध कर उन्होंने अपनी कल्पनामयी प्रतिभा से उसमें मनोरम परिवर्तन भी कर दिया है, जैसे पूर्वोक्त गान्धारी शाप-प्रसंग में युग प्रभु श्रीकृष्ण द्वारा गान्धारी के शाप का नतमस्तक ग्रहण एवं संजय द्वारा वर्णित अश्वत्थामा कृत पांचाल-संहार को सुनते हुए गान्धारी की असीम विद्वेषभरी प्रवृत्ति-प्रदर्शन में यथा-सत्य व न्याय पथारूढ़ युद्ध से एकमात्र जीवित बच कर आए अपने पुत्र युयुत्सु के साथ अतीव संकीर्ण मन सामान्यतम स्त्री सुलभ अरुन्तुद (मर्मभेदी) दुर्व्यवहार प्रदर्शन में कुरु कुल

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 79
2. महाभारत : व्यास : सौ० पर्व : अ० 16 : श्लोक 8 से 12 ; पृ० 27
3. अन्धायुग : भारती : पृ० 98

की शीर्षस्थ महिला व राजमाता गान्धारी को कथा-प्रसंग में लाकर भारती ने कथानक में सुन्दर सौन्दर्य ला दिया है, जबकि महाभारत में गान्धारी की इस प्रवृति के दर्शन नहीं होते। इसी प्रकार महाराज धृतराष्ट्र को भी अन्त में महाभारत से कुछ भिन्न प्रकार से दिखला कर पुरुष-जाति के मनोविज्ञान-प्रदर्शन के उद्देश्य से कथा में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है, अर्थात् महाभारत में राजा धृतराष्ट्र को ऊपर से पश्चा-ताप करते हुए भी अन्तर्मन से बड़ा कुटिल दिखाया है। उदाहरण के लिए महाभारत के 'स्त्री पर्व' स्थित 15 से 21 श्लोकों में—

"तस्य संकल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौभीममामसम्॥

× × ×

स तु कोयं समुत्सृज्य गतमन्युर्महा मनाः।
हा हा भीमेति चुक्रोश नृपः शोकसमन्वितः॥"[1]

पाण्डव-मिलन-प्रसंग में वह (धृतराष्ट्र) भीम से मिलते समय चतुर श्रीकृष्ण द्वारा भीम के स्थान में प्रस्तुत उसकी लौहमूर्ति को भुजाओं में भर कर तोड़ देता है और फिर श्रीकृष्ण द्वारा वास्तविक रहस्य बतलाने पर पश्चाताप करके पाण्डवों को ही पुत्रवत् स्वीकार कर लेता है, किन्तु 'अन्धा युग में भारती ने राजा को इतना विद्वेषी न दिखाकर राज्यलोभी दिखाया है :—

'वत्स तुम मेरी आयु ले कर भी, जीवित हो···
·· तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर
सब राजपाट तुमको ही सौंप दें।'[2]

उपसंहार में कह सकते हैं कि 'यह' 'महाभारत' की उपजीव्य रचना है। प्रातिभशक्ति से सम्पन्न भारती ने इसमें कहीं-कहीं प्रकरण-वक्रता के चमत्कार उत्पन्न किए हैं। आचार्य कुन्तक की कसौटी से परखने पर तो सम्पूर्ण कथा में प्रबन्ध-वक्रता का मुक्त प्रवाह है। कथा में युगानुकूल लचक आयी है, मनोविज्ञान के प्रभाव से कथा को वैसा ही ढाला भी गया है अतः कथा का मेरुदण्ड प्राचीन होते हुए भी वह स्वयं नवीन तथा मौलिक है।

1. महाभारत : व्यास : स्त्री पर्व : अध्याय 12 : श्लोक 15 से 21 : पृ० 14
2. अन्धायुग : भारती : पृ० 95

द्वितीय अध्याय

आधुनिकता-बोध और 'अन्धायुग' की रचना-दृष्टि

आधुनिकता-बोध

ऐतिहासिक परिपार्श्व में विकास-क्रम :

आधुनिकता अपने आप में एक जटिल और लम्बी चर्चा का विषय है। डॉ० नगेन्द्र के मत से 'आधुनिक शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है—(1) समय सापेक्षय, (2) नये का वाचक, (3) विशिष्ट दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन का वाचक।'[1] 'आधुनिक का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युग-बोध, परम्परा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा, अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि-विकास की आकांक्षा आदि ही उसके सही लक्षण हैं—विघटन और अगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी भी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नहीं है।'[2] स्वचेतना आधुनिकता की प्रथम और अनिवार्य शर्त है। इस सम्बन्ध में अनेक क्षेत्रों से साक्ष्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है। अपने समक्ष इतिहास को रखा जाए तो वह साक्षी देकर स्पष्ट करेगा कि काल-विभाजन की तुलनात्मक विवेचना इतिहास के काल और समय की अवधि की दृष्टि से शनैः-शनैः लघुता की सीमा से लिपटते जा रहे हैं। युग के इस परिवर्तनशील चक्र में नये-नये परिवेशों से सज्जित प्रवृत्तियों का इतना शीघ्र परिवर्तन और उसका इतना शीघ्र अनुभावन गहन स्वचेतना द्वारा ही सम्भव है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार-विश्लेषण किया जाए तो कहना पड़ेगा कि विज्ञान में विकास की गति अधिक क्षिप्रता से प्रगति के पथ पर अग्रसर रही। विज्ञान की प्रगति को यह क्षिप्रता अनायास नहीं वरन् इसके पीछे मानवीय व्यक्तित्व की स्वचेतना परिलक्षित होती है। 'अपनी इसी स्वचेतनवृत्ति के कारण आधुनिकता की प्रमुख चिन्तना वर्तमान के लिए है क्योंकि 'स्व' का सबसे गहरा बोध और सम्पर्क वर्तमान में होता है। वर्तमान की चिन्तना के माध्यम से ही आधुनिक

1. आस्था के चरण : डॉ० नगेन्द्र : पृ० 217
2. नयी समीक्षा ; नये सन्दर्भ : डॉ० नगेन्द्र, पृ० 67

व्यक्ति भविष्य को रूपायित करना चाहता । आधुनिकता सबसे अधिक महत्व वर्तमान को देती है आधुनिकता का उदय प्रजातांत्रिक पद्धतियों के अन्तर्गत होता है, स्वातंत्र्य और दायित्व इस पद्धति में अविच्छिन्न मूल्य हैं। आधुनिकता का हामी—सृजनात्मक मूल्यों के संचरण में विश्वास रखता है। आनिधुक दृष्टि-अनिवार्यतः बौद्धिक है और वह सहज ज्ञान को भी बौद्धिक स्तर पर स्वीकार करती है। आधुनिक दृष्टि आधुनिकता के बिना अकल्प्य है। अपने वर्तमान के प्रति तीव्रतम सजगता आधुनिकता का केन्द्रीय तत्व है । मूल्य रूप में विभावित आधुनिकता इतिहास की प्रक्रिया का अद्यतन चरण है। वर्तमान युग में स्वचेतना मानवीय व्यक्तित्व की चरम परिणति कही जा सकती है।'[1] आधुनिकता और वर्तमान दो शब्द हैं। 'वर्तमान' शब्द केवल समय-बोधक है, किन्तु आधुनिकता मात्र समय का ही नहीं संवेदना और शैली का बोध भी कराता है। भारतेन्दु-युग से ही आधुनिकता प्रारम्भ होती है, लेकिन भारतेन्दु युगीन आधुनिकता समग्र भारत की खोज थी जो भारतीय आत्मीयता का भाव विकसित करती है। भारतीय संस्कृति और भारत का विस्तार हमारा अपना है। इस भाव को भारतेन्दु और द्विवेदी-युग ने स्वीकार किया। इसका विकास निरन्तर छायावाद तक होता रहा। इसके पश्चात् छायावाद-युग भारतीय-विश्वास की एक आन्तरिक गहराई को स्पर्श करता है। छायावाद ने हमारी मूलभूत संस्कृति और मूलभूत भारतीय आदर्शों एवं आस्था का विरोध नहीं किया बल्कि उसे स्थापित करने की ओर रहा। छायावाद में अनुभूति के धरातल को मानवीय धरातल पर स्वीकार करने का बोध स्वीकार किया गया। छायावाद तक तो हम निर्विवाद स्वीकार कर सकते हैं कि छायावाद तक किसी आस्था विश्वास से सम्पृक्त थे लेकिन छायावाद के बाद आधुनिकता दूसरे धरातल पर प्रतिफलित होने लगी।

प्रगतिवाद में किसी कवि की कोई सर्जनात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। यद्यपि प्रगतिवाद ने विरोध किया, लेकिन उसने किसी भी महत्वपूर्ण कवि को जन्म नहीं दिया। इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए।

छायावादोत्तर साहित्य में, जिसे हम प्रयोगवाद कहते हैं, संस्कृति के विरोध का प्रबल स्वर सुनाई पड़ता है। प्रयोगवादी साहित्य या नयी-कविता का सबसे बड़ा लक्षण है संस्कृति का विरोध। नयी कविता संस्कृति-विरोधी, परम्परा-विरोधी है। इस साहित्य के आधार पर पहला और महत्वपूर्ण लक्षण स्वीकार कर सकते हैं—संस्कृति का विरोध। संस्कृति-विरोध किस रूप में है—अब हमें यह देखनी है। धर्मवीर भारती ने 'मानवमूल्य और साहित्य' में मुक्तिबोध की पंक्तियों को उद्धृत किया।—

1. हिन्दी साहित्य कोश : भाग 1 : पृ० 110, 111

'इतने प्राण, इतने हाथ इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्तः शुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य वह वैचित्र्य ईश्वर भक्ति
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द
जितना ढोंग, जितना भोग, इतने है निर्बन्ध,
केवल एक जलता सत्य देने टाल।'[1]

पर नयी दृष्टि को वह मार्ग-मरण का अनुभव होता है जिसमें सत्य से मुंह बचा कर भाग जाय और इसीलिए यदि उससे उसका क्षोभ जागता है तो अनुचित नहीं—

'तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अन्ध,
देती क्रोध मुझको खूब जलता क्रोध॥'[2]

उसका यह क्रोध इसलिए और भी उचित है क्योंकि वह व्यक्तिगत नहीं है। वह तो केवल मध्यकालीन घटाटोप को विच्छिन्न कर आधुनिक युग के साधारण-जन को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया है। उसकी नियति और साधारण-जन की नियति परस्पर आबद्ध है। दोनों का आक्रोश किसी व्यक्ति पर नहीं है। उनका तो 'अविवेक' पर है, क्योंकि अन्ततोगत्वा हर हाथी-दाँत की मीनार अविवेक की मीनार ही साबित होती है :

'मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।'[3]

इस प्रकार की पंक्तियाँ पहले सोची भी नहीं जा सकती थीं, लिखने की तो बात ही और है। इस बात पर हम सरलता से अनुमान लगा सकते हैं कि संस्कृति का विरोध किसी बड़ी आस्था को लेकर किया गया। संस्कृति की और आस्था की समाप्ति आधुनिकता के पहले लक्षणों में मानी जा सकती हैं। आस्था और विश्वास को नये साहित्य से निकाल देना चाहिए। युयुत्सु का कथन यही ध्वनित करता है—

'सुनता हूँ किसका स्वर इन अंधलोकों में
किसको मिली है नई आस्था ?
आस्था नामके यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को

1. मानवमूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती पृ० 96
2. वही : पृ० 97
3. तारसप्तक : सम्पा० अज्ञेय : मुक्तिबोध : पृ० 25

जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले।'[1]

आस्था और विश्वास को नकली समझकर कूड़े में फेंक दिया है। यही आस्था नये साहित्य में जाकर मरुस्थल में परिवर्तित हो जाती है। अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर यह षडयंत्र हुआ। इसलिये नये कवि आस्था और विश्वास को मानदण्ड नहीं बना सकते। समाज, संस्कृति, राजनीति—सब जगह एक घटाटोप था जिससे व्यक्ति में जो कुछ मूल्यवान है उसे ढक दिया जाता है। युग-जीवन की परिस्थितियों के कारण संस्कृति का विरोध उत्पन्न हुआ है। व्यवस्था और संस्थान से सम्बद्ध जो महत्वपूर्ण व्यक्ति है, वे पुरातन आस्था और सत्य को अपनी रक्षा करने के रूप में प्रयोग करता है। इसी कारण सत्य, आस्था हाथ से छूट जाते हैं और इसी परिप्रेक्ष्य में लघुमानव की सार्थकता का, व्यक्ति की पीड़ा का अपमान होता है और यह सब संस्कृति के नाम पर घटित होता है।

आधुनिकता-बोध और आधुनिक विचारधाराओं की भूमिका

विचारधाराओं ने भी हमें अनास्था के प्रति सचेत बनाया। इस संदर्भ में नीत्शे, फ्रायड, मार्क्स और डार्विन का नाम लिया जा सकता है। नीत्शे ने अवर्तमान मनुष्य की कामना की किन्तु वर्तमान में जो मानव पीड़ा भोग रहा है नीत्शे उसका समाधान नहीं करता। उसका उद्देश्य मानव को मुक्त करना था परन्तु उसने जिस मनुष्य की कल्पना की वह कल्पना का ही मनुष्य था। इस तरह की भावना हिटलर और मुसोलिनी को ही जन्म दे सकती है, सहज मनुष्य की खोज नहीं कर सकती। फ्रायड भी मनुष्य को स्वस्थ व रोगमुक्त करना चाहता था। मनुष्य के कार्यों का उत्तरदायित्व मन के अवचेतन स्तर पर है। मनुष्य की मुक्ति को उपलब्ध कराने में मनुष्य स्वतन्त्र न हो सका। मार्क्स भी मानव की स्वतन्त्रता, वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता था, वह साधारण जन को प्रतिष्ठा दिलाकर ऐसे समाज की कल्पना करता है जहाँ सब समान हों लेकिन मार्क्सवाद की जो प्रयोगात्मक पद्धति है साम्यवाद, जिसने मनुष्य को एक व्यवस्था से बाँध कर उसको परतन्त्र कर दिया। मनुष्य की वैयक्तिक स्वतन्त्रता नष्ट हो गई। इसका प्रयोगात्मक पक्ष ठीक उल्टा हुआ और मनुष्य के विचार-स्वातन्त्र्य का अपहरण तो हुआ ही, उस पर कड़े प्रतिबन्ध भी लग गए। डारविन ने शरीर विज्ञान के आधार पर सिद्ध किया कि मनुष्य का विकास पशु से हुआ है। इस चिन्तन से मनुष्य के पशुत्व को एक न्यायसंगत या विवेकसम्मत अधिकार मिल गया। इस विचारधारा ने मनुष्य को, मनुष्य की अन्तरात्मा को नष्ट कर दिया। निष्कर्षतः विकासवाद ने मनुष्य की पशुता को ही हमारे समक्ष उभार

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 123-124

कर रख दिया। जिसने मनुष्य की वास्तविकता को, विवेक को व्यक्त नहीं होने दिया और नया साहित्य उसी के विरुद्ध विद्रोह करता है। प्राचीन परम्पराएँ जड़ाजड़ होकर संस्कृति के नाम पर एक ओर जहाँ हमारे व्यक्तित्व को बाधित करती हैं, दूसरी ओर वही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर कहीं जड़ कर देती हैं, इसलिए मानव-व्यक्तित्व विघटित हो गया था। इस प्रकार आधुनिक विचारधाराएँ जिन्होंने मनुष्य को मुक्त करना चाहा था उन्हीं ने मनुष्य को खण्डित किया। यही मनुष्य धर्मवीर भारती की अन्तरश्मि है, जगदीश गुप्त का सहज मनुष्य है, लक्ष्मीकान्त वर्मा का लघु मानव है। अज्ञेय ने लिखा है—

'अच्छी कुण्ठा रहित इकाई
सांचे ढले समाज से।'[1]

विचारधाराओं में, सम्प्रदायों में, सृजन की सम्भावना नहीं है। इसीलिए नये कवियों ने इसका विरोध किया, प्राचीन में जो सर्जनात्मकता थी, उसे खोजा। किसी पर विश्वास करना संकट से खाली नहीं है। संकट का बोध, विरोध और अस्वीकार की मुद्रा आधुनिकता के कुछ अन्य महत्वपूर्ण लक्षण हैं। यहाँ संकट मूल रूप से मनुष्य के अस्तित्व का संकट है। नई कविता में जिस संकट की धारणा को व्यक्त किया गया, वह बहुत ऊँचा है। इस अस्तित्वमूलक संकट-बोध के साथ-साथ एक अतिरिक्त चेतना का भार भी वहन करना पड़ता है। प्रभाकर माचवे की छोटी-सी पंक्तियाँ आधुनिक मानव में शंका का प्रतिनिधित्व करती हैं। आज के युग में हर वस्तु पर संदेह होना चाहिए। संदेह के बिना स्वचेतन नहीं हुआ जा सकता और उसके बिना आधुनिक नहीं हुआ जा सकता—

'इंगित है कुछ और पूछ लूँ
इन्द्रचाप की रोली में
संशय के दो कण लाया हूँ
आज ज्ञान की झोली में।'[2]

इस संशय के अतिरिक्त स्वचेतना प्रधान थी। यह अतिरिक्त चेतना मध्य युगीनता से आधुनिकता को अलगाने वाला व्यावर्तक लेखा है। इन सब बातों ने अनुभूति को भी बदल दिया। अब अनुभूति निरुद्वेग और आघात के रूप में सामने आई। नया कवि भावावेग की स्वच्छन्दता (Spontanious overflow) को नहीं मानता। अनुभूति की आवेगशीलता के प्रति नये कवि ने तिरस्कार व्यंजित किया। उसने भावुकता को अस्वीकार कर बौद्धिकता को स्वीकृति दी। 'नदी के द्वीप' में रेखा का कथन यही व्यंजित करता है—"मैं शान्त हूँ। जो भावनाएँ मुझे तोड़ती-मरोड़ती चिथड़े करके रख

1. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० 16
2. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृ० 94

देती थीं, अब मुझे छूती तक नहीं और यह नहीं कि मैं हृदयहीन हो गई हूँ, संवेदन-शून्य हो गई हूँ। नहीं मैं अधिक संवेदनशील भी हूँ पर अनासक्त भी।"[1] छायावादी कविताओं के संदर्भ में ये पंक्तियाँ बहुत बड़ा प्रस्थान हैं। छायावादी कवियों में प्रेम का सहज और मुक्त रूप उपस्थित हुआ था लेकिन यहाँ पर स्वच्छन्दता एवं उन्मुक्तता के आगे की स्थिति है। छायावादी परिस्थिति के भीतर व्यक्ति बड़ा संसक्त हो सकता है किन्तु नये साहित्य में प्रेम एक बाधित रूप में हमारे सामने आता है। छायावाद के प्रेम की स्वच्छन्दता, उन्मुक्तता यहाँ आकर बाधित हो गई। ऊपर रेखा के कथन में—रेखा भुवन के प्रति जिस प्यार को अनुभव करती रही थी, जिसका वह सम्पूर्ण संस्पर्श पा लेना चाहती थी, अब उससे अलग है। उस समय उसने जो भुवन के प्रति स्पर्श किया था, अब उसका स्पर्श नहीं करती। उसकी संवेदना अब अधिक गहरी हो गई है, इसलिए वह अनासक्त हो गई है। रेखा की अनुभूति से सृजन की नई संभावना खुलती है। नये साहित्य में अनुभूति का स्तर बदल रहा है। आवेग के स्थान पर निर्वेग पद्धति के द्वारा सृजन को स्वीकार किया जाने लगा था। लेकिन नया कवि भाव को स्वीकार न कर जीवन को सृष्टा भाव से ग्रहण करता है, परास्त भाव से नहीं ग्रहण करता। "अपने जीवन को परास्त भाव से नहीं, सृष्टा भाव से ग्रहण करो···एक विशाल पैटर्न है जो तुम्हें बुनता है, तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है।"[2] यहां पर इस आवेगशील अनुभूति के झुकाव में एक निर्वेग का साक्षात्कार किया गया है जो प्रेम-प्रधान अनुभूति से आगे जाती है, जिसमें सृजनात्मक और रचनात्मक शक्ति अधिक है। इस शक्ति को सम्भालने वाला, निर्वाह करने वाला व्यक्ति है, यहाँ व्यक्ति की महत्ता की स्वीकृति है।

"प्रत्येक कथा एक-एक तार लाल, सुनहला, नीला···मेरे बिना वह पैटर्न पूरा नहीं होता लेकिन मैं उस पैटर्न का अन्त नहीं हूं।"[3]

विघटन और आंतरिकता की खोज

तटस्थता के बिना अनुभूति हो नहीं सकती। जब तक उसके साथ सचेतन बुद्धि का उपयोग नहीं किया जा सकता तब तक उस आवेग का अनुभव नहीं किया जा सकता। आज की कविता में स्वचेतना एवं व्यक्ति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के स्रोत से आधुनिक सर्जनात्मकता प्रारम्भ होती है और वह आगे भी जाती है। आधुनिकता का दायित्व यही है—नई कविता मनुष्य की आन्तरिकता को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहती है—"मानव मूल्य और साहित्य" में धर्मवीर भारती ने लिखा है, "नयी कविता मनुष्य की "आन्तरिकता" को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहती है,

1. नदी के द्वीप : अज्ञेय : पृ० 368
2. वही : पृ० 357
3. वही : पृ० 357

उसके असामंजस्य को दूर करना चाहती है···हम नये कवि के रागबोध को विक्षुब्ध पाते हैं। मनुष्य की 'आंतरिकता' का सामाजिक महत्व क्या है, उसे समझ लेना आवश्यक है। पिछली दो शताब्दियों में विज्ञान और भौतिक साधनों की जितनी उन्नति हुई है और उससे पूर्व तथा पश्चिम में संस्कृतियों का जो विकास हुआ है उसके विषय में कलाकारों, दार्शनिकों और सन्तों के सारे स्तर खण्डित हो चुके हैं। यह बिखराव आधुनिक युग की समस्या थी और सबसे पहले आधुनिक कल्पकारों, लेखकों और चिन्तकों ने इसे अनुभव किया। यह नया यथार्थ था जिसे मध्ययुगीन परम्पराओं से आक्रान्त रूमानी काव्य-दृष्टि ग्रहण कर सकने में असमर्थ थी। आधुनिक काव्य-दृष्टि ने इस नये यथार्थ को ग्रहण करने का आग्रह किया।[1] नये साहित्य में व्यक्ति को प्रमुखता मिली 'मैं दम साधे रहा मन में अलक्षित···।'[2] छायावादी कवि के लिए प्रकृति अनुभूति का विषय है, उसके लिए अनुभूति भीतर से बाह्य को ग्रहण करती है लेकिन नये साहित्य में बाह्य को भीतर ग्रहण किया जाता है। बाह्य वातावरण या प्रकृति अनुभूति को उद्बुद्ध करती है। नयी कविता में अनुभूति बाहर के आंतरिकीकरण से उत्पन्न होती है इसका परिणाम यह हुआ कि नये कवियों ने सौन्दर्यात्मक विधान की प्रणाली को तोड़ दिया अथवा उनमें आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है। विसंगति, जटिलता और विडम्बना अब अधिक प्रधान हो गयी। यों ये पहले की कविताओं में भी आती थी लेकिन नयी कविता में ये अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी, रचनात्मकता की पूर्णता की धारणा नयी कविता में समाप्त हो गई क्योंकि अनुभूति की पूर्णता की धारणा ही खण्डित हो गयी। प्रयोग, खोज आदि शब्द नयी कविता के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण हो गये। आज आस्था और विश्वास खण्डित हो गये हैं इसलिए आज की कविताओं में कोई बनावट नहीं, कोई अपना ढांचा नहीं है। सौन्दर्यात्मक-बोध को तोड़ देना आधुनिकता का एक अन्य लक्षण विशेष है।

आधुनिकता और समसामयिकता

नयी कविता में आधुनिकता का परिवेश केवल कालगत आधुनिकता से ही नहीं बंधा रहा, वरन् उसमें भावगत नवीनता भी स्पष्टतः व्यंजित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' में लिखा है, 'नवीनता को बहुधा लोग अनोखा (Strang) का नाम देकर हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं क्योंकि वे भाव की नवीनता, स्वर की नवीनता, दृष्टि की नवीनता को महत्वहीन समझ कर साधक और सिद्धि को सत्य मानते हैं, एकालाप और विलाप की निष्क्रियता को सक्रिय मानते हैं। महफिल और मजलिस में मनोरंजन उनका ध्येय होता है तुक और लय में बेतुकी कहने की धृष्टता उनमें होती है। आत्मउपलब्धि और सापेक्ष-तत्व को वे अमर्यादित

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृ० 177
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : रामस्वरूप चतुर्वेदी : 15

देखना चाहते हैं।'[1] आधुनिकता के विषय में वे कहते हैं—'आधुनिकता युग विशेष का गुण है। समसामयिकता स्थितिविशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो हमें देशकाल का बोध देती है, समसामयिकता देश-काल के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है।'[2]...'आधुनिकता काल-बोध, युग-बोध की उद्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि समसामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।'[3] वे यह भी मानते हैं कि आधुनिक युग की सापेक्षता में आधुनिकता मूल्यों और मर्यादाओं की नयी दृष्टि में निहित है। वह रूढ़ियों और गलत परम्पराओं को त्याग कर नई स्थापनाएँ प्रतिष्ठित करती है क्योंकि बौद्धिक जागरूकता के आधार पर वह वर्तमान रूढ़ियों के समक्ष विद्रोही के रूप में उपस्थित होती है। इस प्रकार आधुनिकता केवल बाह्य आरोपित वस्तु न होकर देशकाल की अनुभूत अभिव्यक्ति में व्यक्त होती है तथा सभ्यता के साथ ही संस्कृति में भी अभिव्यक्ति पाती है क्योंकि इलियट ने संस्कृति को एक ऐसा उपादान माना है जो जीवन को सुसह्य बनाता है।'[4]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों को भी उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है। उनके मतानुसार 'आधुनिकता (नवीनता) काव्य के प्रतीयमान रूप को स्पर्श करती है, माँजती है, खरोंचती है, उसके अन्तर्निहित स्थिर और विकासमान अर्थ को नहीं।'[5] 'आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिखकर रखना चाहते हैं। अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने को उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने को उत्सुक।'[6] स्वप्निल आकाश में कल्पना के सुनहले अभिमान को त्याग कर हम युग-चेतना की भावभूमि पर पाँव रख कर उस विस्तृत आयाम की खोज करेंगे जो आधुनिक बोध के यथार्थ रूप में ढलकर भारती की काव्य-भूमि में व्यापकता से विस्तार पाकर विकास के नये चरण रख रहा है। मानव-मूल्यों के प्रति अपने दायित्व की जागरूकता को समझते हुए भारती का कवि उसे कविता की प्रमुखतम उपलब्धि मानकर चलता है। उनमें सच्चे कवि के प्रति एक दृढ़ विश्वास

1. नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृ० 58
2. वही : पृ० 264
3. वही : पृ० 265
4. "Culture may be described as that which makes life worth-living, and it is that which justifies other people and other generation in saying, when they contemplate the remains and the influence of an extinct civilization that it is worthwhile for the civilization to have existed."

   —Selected Prose : T. S. Eliot : p. 250
5. आधुनिक साहित्यबोध (एक परिसंवाद) : पृ० 5
6. यामा : महादेवी वर्मा : पृ० 6 (भूमिका)

मूर्तिमान है कि जो दम्भ, मिथ्याडम्बरों से दूर कुंठाओं को दमित कर एकाकी रहने का साहस लिए सर्व से लेकर 'प्रत्येक' को अपनी भावना के तारों से सम्बद्ध कर देता है, वह सच्चा कवि है। भारती की भाव-स्थिति इन शब्दों में निहित है—'जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी रोजमर्रा की जिन्दगी में अपने को परदेशी नहीं मानते ऐसे लोग असधारणता का बाना नहीं ओढ़ते, सहज रूप में जीवन को सम्पूर्णता में जीने के हामी हैं। व्यक्तित्व को हारते नहीं, जगत् को अस्वीकारते नहीं।'[1] भारती का सम्पूर्ण काव्य आधुनिकता के पोषक तत्वों से पुष्ट है। मर्यादित सत्य को भारती पाप नहीं मानते। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'अनुभूति की ईमानदारी मूल्यों की मर्यादा को बिखेरती है।'[2] अनुभूति की इसी सात्विक गहनता में डूबा भारती का कवि-मन बड़े धैर्य और विश्वास को लेकर कविता की अतुल शक्ति से संघर्ष और नवीन चेतना को माध्यम बनाकर नव-निर्माण का मंगलमय संदेश देकर वर्तमान की त्रास-दायक विभीषिका को निर्मूल करना चाहता है—

> 'फिर उभर कर कहेगी कविता
> क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी है
> अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
> लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
> नया इतिहास देती हूँ
> कौन कहता है कि कविता मर गई ?'[3]

'अन्धा युग' के सम्पूर्ण धरातल में अन्धों के माध्यम से ऐसे ही चिरन्तर आलोक की किरणें व्याप्त हैं। 'जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों ही विक्षिप्त हों, उसकी कथा में विवेक ही प्रकाश दे सकता है।'[4] अतः 'अन्धा युग' में भारती का स्वर सशक्तता, निराशा से ऊपर उठकर, खिन्नता की रेखाओं से पूर्णतः स्वतन्त्र होकर विषैली संकीर्ण गलियों में चिन्मय प्रकाश की किरणों को विकीर्ण कर समस्त सहृदयता से अनुभूति को बाँधने में समर्थ हो जाता है—

> 'ऐसे भयानक महायुद्ध को
> अर्द्धसत्य, रक्तपात हिंसा से जीत कर
> अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
> यह भी यातना है।'[5]

वह व्यक्ति के हाथ में आत्मविश्वास की ज्योति देकर उसकी सामर्थ्य को

1. सात गीत वर्ष : भारती : पृ० 7 (भूमिका)
2. नई कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृ० 66
3. ठण्डा लोहा : भारती : पृ० 46
4. नई कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृ० 75
5. अन्धा युग : भारती पृ० 104

सफलता प्रदान करता है—

> 'मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
> लेकिन मुझे फेंको मत
> क्या जाने कब इस
> दुरूह चक्रव्यूह में अक्षौहिणी सेनाओं को
> अकेले चुनौती देता हुआ···।'[1]

यहीं से—'न हो यदि वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो'[2] कह कर जीवन की स्वस्थ व्याख्या कर सहज जीवन को 'कनुप्रिया' में पिरोते हैं, 'लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है और जो अब उद्घोषित महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं होता बल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज कसौटी पर समस्त को कसेगा। ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का।'[3]

> 'कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य मेरा गन्तव्य।'[4]
> 'इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
> और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे सहयात्री'[5]

जैसे 'अन्धा-युग' महाभारत के अस्त होते ही सूर्य की अन्तिम धूमिल अन्ध किरणों की कथा नहीं है बल्कि उसके कण-कण में आज का इतिहास लक्षित है उसी प्रकार 'कनुप्रिया' की प्रिया भी कनु से अन्तः प्रेरणा की दुहाई देती हुई दिखाई देती है। वस्तुतः 'कनुप्रिया' की प्रिया एक आधुनिक नारी की भाँति आधुनिक जीवन से पूर्णतः परिचित होकर अपनी मनःस्थिति को तोलती-विश्लेषित करती है। वायदे, आश्वासन, धर्म, स्वधर्म उसे अर्थहीन शब्दों-से जान पड़ते हैं। इसे उसके पागलपन की संज्ञा नहीं दी जा सकती, बल्कि यह राधा की यथार्थ जीवन से प्रेरित स्वानुभूति का सहज प्रकाशन है। वह वैयक्तिक सुख-अभिलाषा को त्याग कर कनु के विचारों को सम्पुष्ट करने का भी आग्रह रखती है—

> 'और जब तुमने कहा था—'माथे पर पल्ला डाल लो।'
> तो क्या तुम चिता रहे थे
> कि अपने इस निजत्व को अपने आन्तरिक अर्थ को
> मैं सदा मर्यादित रखूँ

1. सात गीत वर्ष : भारती : पृ० 91-93
2. दूसरा सप्तक : भारती : पृ० 196
3. कनुप्रिया : भारती पृ० 7
4. वही : पृ० 36
5. वही : पृ० 39

रसमय और पवित्र रखूं
नववधू की भाँति ।'[1]

आधुनिकता के इसी सन्दर्भ में अब हम यहाँ से भारती की सर्वोत्कृष्ट कृति 'अन्धा-युग' की ओर मुड़ कर उसका मंथन करेंगे कि भारती उसकी संगति आधुनिकता से सम्बद्ध करने में कहाँ तक सफल हैं।

पौराणिक कथा और युग बोध

'अन्धा युग' की कथा-पुराण कथा है। कथा महाभारत से ली गई है। कथा का प्रारम्भ महायुद्ध के अट्ठारहवें दिन की सन्ध्या से होता है और कुरुक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक चलता है, किन्तु इस कृति में पौराणिक कथा इतनी महत्वपूर्ण नही है जितना कि नया युग-बोध। कवि ने इस कृति में आज के विसंगतिपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि में समाज एवं मानव-मन में व्याप्त युद्धोत्तरकालीन पस्ती, कुण्ठा, पराजय, प्रतिशोध, निराशा, रक्तपात, ध्वंस, कुरूपता, विकृति, अधःपतन, कुण्ठाजनित बर्बरता, अन्धस्वार्थता, विवेकशून्यता, त्रास, द्वन्द्व, भयानक टूटन-विघटन, ह्रासोन्मुख मनोवृत्ति, विघटित होते हुए मानव-मूल्यों की अस्त-व्यस्त खण्डित परम्परा; जीर्ण-शीर्ण होती हुई मर्यादाएँ, मानव-आत्मा की शोषित भावनाएँ तथा भौतिक द्वन्द्वों के परिप्रेक्ष्य में नयी भावनात्मक अनुभूतियों का सफल एवं सशक्त अंकन किया है। वस्तुतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विघटित हो जाना ही मनुष्य के मनोवैज्ञानिक संक्रमण का कारण है जिसमें रह कर वह आज भी जी रहा है। युद्ध की ताण्डव-लीला समाज की एकात्मानुभूति को त्रस्त कर एक ओर सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं का हनन करती है तो दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं को विकृत और जर्जर कर देती है। इन दोनों पाटों के मध्य मानवीय गौरव, जीवन की सरलता, गतिमान आस्थाएँ, विच्छिन्न होकर कुण्ठाओं के वक्ष से लिपट जाती हैं। महाभारत-युद्ध के अन्तिम प्रहर के सूर्य ने जिन भग्नावशेष जीवन-गाथाओं को प्रकाशित करने की चेष्टा की, भारती ने युद्धोपरान्त आज के जीवन की विषमताओं, विसंगतियों के तार उसी युद्धोपरान्त स्थितियों, विकृतियों से सम्बद्ध किए। वही कृति भविष्य में चलकर साहित्य को आलोक प्रदान कर सकती है जो जीवन से जुड़ी हुई हो और भारती की यह कृति आज के विघटित हुए मानव-मूल्यों और दायित्वहीन आस्थाओं से जुड़ी हुई है।

आधुनिक काल की समस्याओं और द्वन्द्वात्मक त्रास को व्यक्त करने में सशक्त देखकर भारती ने महाभारत युद्ध की विख्यात घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों को माध्यम बनाकर ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की और महाभारत के संहारक-युद्ध की विख्यात घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों के चित्र इस प्रकार चित्रित किए कि वे

1. अन्धा युग : पृ॰ 39

आंतरिकता से आधुनिक जीवन की गहन विसंगतियों के प्रखर स्वर दें। इसीलिए उन्होंने आज के आधुनिक जीवन का प्रकट सत्य दिखाने के लिए तत्कालीन सन्दर्भों के अनुरूप कुछ नये पात्रों और वस्तुओं को नवीन उद्भावनाओं से अलंकृत किया। पात्रों-प्रसंगों को उनके ऐतिहासिक परिवेश में सुरक्षित रखकर आधुनिक मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र के विकीर्ण प्रकाश में उन्हें नयी व्याख्याओं की भावभूमि से बाँधकर नवीनता का स्पर्श दिया। अपनी आधुनिक संवेदना को वाणी देने के लिए इतिहास की समस्त सामग्री और सम्पूर्ण स्वर को समेटकर आधुनिक काल से सम्बद्ध कर सफलता प्राप्त की। भारती की स्वचेतना का मानदण्ड यही है कि उन्होंने इतिहास पर वर्तमान को कहीं भी भार न बनाकर इतिहास को वर्तमान के अनुकूल बना दिया। इसीलिए महाभारत का विनाशक युद्ध 'अन्धा युग' की ठोस पृष्ठभूमि मात्र नहीं रहता, एक प्रतीक बन जाता है—'आधुनिक युग के अन्धेपन का प्रतीक।'

कवि ने आरम्भ में ही युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों एवं आधुनिक युगबोध की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहा—

युद्धोपरान्त,
यह अन्धायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में है साहस सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।"[1]

मर्यादा की पतली और क्षीण डोरी में कौरवों और पांडवों के पक्ष ही नहीं उलझे, आधुनिक युग के आस्थावान और आस्थाहीन, नीतिकुशल और नीतिहीन, सचेत और काल के परिवर्तनशील चक्र में दोलायमान व्यक्तियों का जीवन भी उलझा है। जब हम इन काव्य-पंक्तियों को मस्तिष्क पर बल देकर गंभीरता के साथ पढ़ते हैं तो एक अव्यक्त वातावरण धुंधलके की तरह उभरने लगता है। यह है युद्धोत्तरकालीन वातावरण—निराशा, हताशा, कुंठा, पराजय एवं अनास्था का; जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं। जीवन में जो भी सत्य एवं सुन्दर था, युद्ध की विभीषिका ने नष्ट कर दिया है, शेष है तो मात्र विकृतियाँ। लगता है कोई

1. अन्धा युग : भारती : पृ॰ 10

ऋषि मानस जिसने युद्ध की पीड़ा झेली है और तटस्थ होकर युद्ध की भयंकरता को देखा-परखा है, प्रत्यक्ष संवेदनात्मक स्थितियों से उबरने के उपरान्त युद्ध के अनुभव से दुःखी पीड़ित एवं व्यथित है। यह द्रष्टा ऋषि और कोई नहीं कवि ही है। ऐसा प्रतीत होता है कहीं एकान्त प्रदेश में विचारमग्न होकर वह युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों एवं वातावरण का तटस्थ मूल्यांकन कर रहा है और यह कवि-मानस युद्ध का तटस्थ एवं सही मूल्यांकन कर सकेगा, इसका विश्वास पाठक अथवा दर्शक को नाटक के आरम्भ में ही हो जाता है। कविता की लय जहाँ भूतकाल के यथार्थ को प्रस्तुत करती है, वहीं आधुनिक काल के यथार्थ को भी। इन पंक्तियों में जहाँ महाभारत-युद्ध की भयानक अनुभूति चित्रित है वहीं आधुनिक युद्धों का मानव-भयप्रद जनविनाशक प्रलयंकारी रूप भी उसके साथ जुड़ा हुआ है।

'अन्धायुग' नाटक सन् 1954 में लिखा गया था जब विश्वशक्तियाँ दो गुटों में बंट चुकी थीं, द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रलयंकारी स्थिति अभी भी शेष थी और विश्व तीसरे महायुद्ध की विभीषिका से त्रस्त। ऐसे तनावपूर्ण समय में विश्व की भोली-भाली निरीह एवं निर्दोष जनता तटस्थ भारत की ओर ही आशाभरी दृष्टि से देख रही थी कि सम्भवतः यही देश विश्वशान्ति का कोई स्थायी उपाय ढूंढ़ निकाले। कहना न होगा कि कवि और जनता की यह धारणा आज मिथ्या प्रमाणित हो चुकी है। एक ओर महाभारत के अन्धे स्वार्थी पात्र हैं, ठीक समानान्तर रूस, अमेरिका की अंधी सरकारें हैं। इस कृति के अन्त में भी कवि ने कहा है—

> 'उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
> बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है
> हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं
> हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है
> हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
> अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
> है दासवृति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
> अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।'[1]

इस प्रकार 'अन्धायुग' में महाभारत-कथा के उस मर्मबिन्दु का चुनाव किया गया है जो द्वितीय महायुद्धोत्तर मानवीय-नियति, मानवीय-संस्कृति और मानवीय-भाग्य से मेल खाता है, जिस प्रकार महाभारत-युद्ध के बाद भय, कुण्ठा, निराशा, पस्ती एवं पराजय तथा निरर्थकता का वातावरण छा गया था, ठीक वही स्थिति द्वितीय युद्ध के लोमहर्षक विध्वंस के पश्चात आधुनिक युग की थी। आधुनिक मानव भी कुण्ठा भय, संशय, सामूहिक मृत्युभय, निराशा एवं निरर्थकता से ग्रस्त है। इन्हीं मूल्यों और

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 130

मर्यादाओं का अन्वेषण 'अन्धा युग' की मौलिक समस्या है। कुण्ठावादी मनोवृत्तियों, विकृतियों से घिर कर आज का मानव पशु के समान अपना जीवन-यापन कर अस्तित्व-हीन नहीं होना चाहता। उसे अपने अस्तित्व से प्रगाढ़ मोह है। वह उस अवश एवं दयनीय स्थिति से मुक्ति के लिए छटपटाता है, भटकता है और अन्धेरे के इधर-उधर हाथ-पाँव मारता है कि कहीं कोई प्रकाश की किरण मिल जाए। इसी प्रकार आधुनिक युग-बोध के साथ महाभारत-कथा के उस मर्मबिन्दु का सामंजस्य दिखाया जा सकता है और तब 'अन्धा युग' की कथा पौराणिक कथा मात्र नहीं, प्रतीक बन जाती है। प्राचीन कवियों (जैसे तुलसीदास) ने पौराणिक कथा में परिवर्तन तो किए हैं किन्तु उनकी राम कथा प्रतीक नहीं बन पाती। 'अन्धा युग' में पौराणिक कथा का परिवर्तन मात्र नहीं है, उसे न केवल नयी दृष्टि एवं नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया है अपितु समग्र कथा प्रतीकबद्ध हो जाती है। कथा के जितने भी मर्मबिन्दु हैं, वे जहाँ एक ओर महाभारतकालीन सत्य को उद्घाटित करते हैं वहीं दूसरी ओर आधुनिक युग-बोध को भी व्यंजित करते हैं।

इस काव्य-नाटक में श्रीकृष्ण को भी नयी दृष्टि से परखा गया है। जो कृष्ण अब तक कवियों एवं कलाकारों के द्वारा परब्रह्म के रूप में चित्रित होते आए हैं तथा जिन्हें केवल मर्यादित तथा सत्य के आग्रही के रूप में ही चित्रित किया जाता रहा है, उस कृष्ण को 'अन्धा युग' में एक नयी भूमिका मिली है। 'अन्धा युग' का कृष्ण केवल प्रभु अथवा परब्रह्म ही नहीं हैं बल्कि देवत्व एवं दानवत्व की संधि-रेखा पर खड़ा वह आधुनिक जटिल मनुष्य भी हैं जो परिस्थितियों से प्रेरित होकर सत्य की रक्षा करते हैं तो सत्य का त्याग भी, मर्यादा का वहन करते हैं तो अमर्यादा का ग्रहण भी। इस प्रकार पहली बार कृष्ण को अमर्यादित रूप में चित्रित किया गया है और तब कृष्ण का व्यक्तित्व उस जटिल मनुष्य के व्यक्तित्व के रूप में उभरता है जो पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के झूले पर घड़ी के पेंडुलम की भाँति सदा दोलायमान रहता है। 'अन्धा युग' के कृष्ण सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के एकमात्र निर्णायक नहीं हैं। इनका निर्णय संशयग्रस्त मनुष्य कर भी कैसे सकता है? मनुष्य क्या प्रभु भी नहीं कर सकते। इनकी निर्णायक तो परिस्थितियाँ ही हैं। पाप और पुण्य, मर्यादा और अमर्यादा, सत्य और असत्य के निर्वाचन में परिस्थितियाँ ही मनुष्य को प्रेरित करती हैं।

आधुनिक युग-बोध में सत्य और असत्य का कोई निरपेक्ष निर्णय, जो शाश्वत हो, नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार आधुनिक युगबोध जटिल हो जाता है। आज सभी सिद्धान्त, सभी आदर्श खोखले सिद्ध हो चुके हैं और बुद्धिवादी आधुनिक मानव को जब इस कटु यथार्थ का ज्ञान हो गया है कि कोई भी सिद्धान्त अथवा आदर्श परम सत्य तक नहीं पहुँच सकता तब स्वभावतः वह एक गहरी प्रश्नाकुलता में डूब जाता है। उसे जीवन की इस निरर्थकता एवं व्यर्थता का कटु और तिक्त अनुभव होता है और तब उसे कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व सब अर्थहीन मालूम पड़ते हैं और वह

अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर पाता है कि सत्य और कुछ नहीं, अनुभव के द्वारा जो भी व्यक्ति को मिलता है, वही और केवल वही सत्य है। भारती की 'कनुप्रिया' की राधा कहती हैं—

> कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
> शब्द, शब्द, शब्द······
> मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं
> मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ,
> हर शब्द को मुंजरी बना कर
> बूंद-बूंद तुम्हें पी रही हूं
> और तुम्हारा तेज
> मेरे जिस्म के एक-एक मूच्छित संवेदना को
> धधका रहा है ?'[1]

और तब कनुप्रिया को बोध होता है कि सत्य केवल व्यक्ति का भोगा हुआ अनुभव है, केवल 'मैं' है और कुछ नहीं—

> 'शब्द, शब्द, शब्द
> तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु संख्यातीत
> पर उनका अर्थ मात्र एक है—
> मैं
> मैं
> केवल मैं।'[2]

भारती ने इस नग्न सत्य का भी उद्घाटन किया है कि चाहे सत्य का वरण करो या असत्य का, अन्त में केवल पीड़ा ही मिलेगी। यहाँ आस्था-अनास्था का प्रश्न उठा देना अनिवार्य है। इसी आस्था के प्रश्न को भारती ने संजय, युयुत्सु तथा अश्वत्थामा के माध्यम से 'अन्धा युग' में प्रस्तुत किया। भारती ने अनास्थकों की आस्था को आवश्यक भूमिका के रूप में स्वीकार किया क्योंकि आस्था की माला का वरण करने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रथम सोपान है और यही स्वर 'अन्धा युग' में सशक्त रूप में उभर कर सामने आया। विदुर का आग्रहपूर्ण प्रश्न समस्त मानवता के प्रतीक कृष्ण के प्रति विनम्र निवेदन का रूप धारण कर लेता है—

> 'यह कटु निराशा की
> उद्दत अनास्था है···
> आस्था तुम लेते हो
> लेगा अनास्था कौन ?'[3]

1. कनुप्रिया : भारती : पृ॰ 73
2. वही : पृ॰ 74
3. अन्धा युग : भारती : पृ॰ 22

कवि के अन्तर्मन में गीता के पृष्ठ खुले पड़े थे जिसके गहरे प्रभाव से उसने कृष्ण के चरित्र की सृष्टि की। इतिहास-नियन्ता और नितान्त असाम्प्रदायिक भावना से बद्ध गीता में जो कृष्ण का व्यापक रूप अंकित है, वही कृष्ण का रूप 'अन्धा युग' में भी उपस्थित हुआ, जो जिसका परम्परा से चले आ रहे धर्म और कर्मकाण्ड की रेखाओं से आबद्ध नहीं। प्रमाण के लिए कृष्ण का यह कथन पर्याप्त है—

'अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकर रणभूमि में' [1]

यह कथन सर्वात्मवाद दर्शन से बोझिल नहीं वरन् एक व्यापक युग-चेतना की ओर इंगित कर इस बात को सिद्ध करता है कि यह व्यापक युग-चेतना मनुष्य की आस्था की सशक्त और ओजस्वी भावनाओं को निरन्तर वहन करने में समर्थ है जो सच्चे शब्दों में मानवीय मर्यादाओं और मूल्यों का पुंजीभूत गतिमान भास्वर स्वर है। इस सन्दर्भ में उपरोक्त उद्धरण गीता के कृष्ण की आधुनिक युग के अनुरूप व्याख्या मात्र है या यूँ कहना चाहिए कि बदलते हुए परिवेशों और निरन्तर परिवर्तनशील युग में गीता के कृष्ण की आधुनिक युग के अनुरूप व्याख्या कर दी गई। किन्तु कृष्ण के उलझे हुए चरित्र को वर्तमान के अनुरूप संगति देकर सुलझा लेना भारती के गम्भीर चिन्तन का परिचायक है और निश्चय ही युग-युग से पुराणों, लोक कथाओं, धार्मिक ग्रन्थों में एक इतिहास-नियन्ता के उलझे चरित्र को कोई चिन्तक कलाकार ही सुलझा कर वाणी दे सकता है और भारती ने अपनी गहन कलाकारिता को सिद्ध कर चिन्तक-कलाकार की भावना को सुरक्षित रखा।

अन्धे धृतराष्ट्र का एक सौ एकवां पुत्र युयुत्सु श्रीकृष्ण को आदर्श मान कर कौरवों को असत्य और पाण्डवों को सत्य का पक्षधर समझकर सत्य पक्ष लेता है और युद्ध के बाद जब उसे अपने माता-पिता तथा प्रजा के द्वारा भयंकर घृणा और भीम के द्वारा भी परिहास और उपेक्षा मिलती है तो वह बड़े ही दर्द भरे स्वर में कहता है—

'अब यह माँ की कटुता
घृणा प्रजाओं की
क्या मुझको अंदर से बल देगी ?···
मुझको क्या मिला विदुर
मुझको क्या मिला ?' [2]

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 100
2. अन्धा युग : भारती : पृ० 21

और तब विदुर समझाते हुए कहते हैं—

'शान्त हो युयुत्सु
और सहन करो
गहरी पीड़ाओं को गहरे में वहन करो ।'[1]

आधुनिक आचरण के विभ्रमों का प्रतीक युयुत्सु आस्था के प्रति अनास्था का आक्रोश से पूर्ण सबसे गहरा स्वर है । निष्कर्षतः जीवन के प्रति उसकी मान्यता उभरती है—

'अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का ।'[2]

वह आस्था को घिसे हुए सिक्के की उपमा देकर अट्ठहास करता है । प्रेतावस्था के रूप में भी उसके हृदय का आरोह-अवरोह, उद्वेलन-आलोड़न और अन्तर्विरोध शान्त आँचल की छाया में विश्रान्ति नहीं पाता । वह इस खोटे और घिसे हुए सिक्के को तिलाँजलि देकर उसके दूसरे रूप का वरण कर लेता है—

'इसलिए साहस से कहता हूँ
नियति है हमारी बंधी प्रभु के मरण से नहीं,
मानव भविष्य से
परीक्षित के जीवन से ।'[3]

सम्पूर्ण मतवादों और सम्प्रदायों से निरपेक्ष मानवीय नीति का यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष मानव-भविष्य से है । वैज्ञानिक मानववाद का मूलस्रोत इस बात की आज्ञा नहीं देता कि नैतिक आचरण के लिए किसी प्रकार के साम्प्रदायिक धर्म अथवा कर्मकाण्ड की आवश्यकता हो । वैज्ञानिक मानववाद का यही मूल मानदण्ड अस्तित्व के साथ संगति के तार जोड़ता है और धर्म को खोखला सिद्ध करता है । व्यापक युग-चेतना से अनुप्राणित भारती की आस्था कृष्ण को माध्यम बनाकर सम्पूर्ण मानवता में विकास पाती है ।

यहाँ आकर 'अन्धा युग' में मर्यादित कर्म तथा सत्य की समस्या आस्था से सम्बद्ध हो जाती है । इतिहास के पृष्ठों पर असत्य के साथ सबसे बड़ा समझौता कदाचित युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य का रहा है । धर्मराज के धर्म का अभिनय सम्पूर्ण मानवीय भावनाओं और संकल्पों को कड़ी बना गया जिससे अश्वत्थामा की बर्बर प्रतिहिंसा और तज्जन्य संहार महाभारत का एक विशिष्ट परिशिष्ट बन गया । इससे सीधा सम्बन्धित होने के कारण कवि-लेखक इस अर्द्धसत्य का विश्लेषण कर

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 57
2. वही ।
3. वही ।

अश्वत्थामा को बहुत दूर तक अपनी सहानुभूति दे बैठा। प्राय: समस्त समस्याओं का केन्द्रबिन्दु होने से अश्वत्थामा का चरित्र 'अन्धा युग' में सबसे अधिक निखारा और वह अधिक सशक्तता की वाणी पाकर उभर आया।

यह तो सत्य ही है कि युद्ध घोषित होने पर सत्य अथवा धर्म किसी भी पक्ष में स्थिर नहीं रह पाते। अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित मानव अपने अन्दर के मनुष्यत्व को कहीं खो देता है और उसके समक्ष कोई मानदण्ड नहीं रहता। आधुनिक बोध के परिप्रेक्ष्य में 'अन्धा युग' का यह प्रतिपाद्य भी हो सकता है जिसके अनुसार किसी भी युद्ध में सत्य का पक्ष पहले खण्डित होता है। कराहते हुए घायल सत्य को रौंद दिया जाता है और सम्पूर्ण मर्यादाएँ, नैतिक मान्यताएँ टुकड़ों में बँट कर छटपटाने लगती हैं। प्रथम अंक के आरम्भिक क्षणों में कवि अंकित करता है—

'टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा।'[1]

अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित इसी छटपटाहट को गान्धारी अभिव्यक्ति देती है—

'मैंने कहा था दुर्योधन से
धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख
उधर जय होगी
धर्म किसी ओर नही था लेकिन
सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित।'[2]

महाभारत का यह पुनराख्यान आधुनिक युद्ध-संस्कृति में एक मानदण्ड है जिसके आलोक में भारती ने आज की समस्याओं के समक्ष 'अन्धा युग' के रूप में एक दर्पण रखा किन्तु खेद का विषय यह है कि आज के युग में सभी अन्धे हैं, अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित आज का आधुनिक मानव इसी कुहेलिका में उलझा, अन्धा बना हुआ है।

इस प्रकार चाहे सत्य का वरण करो अथवा असत्य का अन्त में केवल पीड़ा ही मिलती है। तभी तो सत्य के पक्षधर ईसा को क्रास पर चढ़ाया जाता है, सुकरात को विष मिलता है और गाँधी को गोली मारी जाती है। अत: पीड़ा ही सत्य है। संजय का मर्मान्तक वेदना से अभिभूत कथन सत्य के टुकड़े कर देता है—

"......मत छोड़ो मुझे
कर दो वध
जा कर अन्धों से
सत्य कहने की

1. अन्धायुग : भारती : पृ० 11
2. वही : पृ० 21

मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है ।'[1]

यह पीड़ा अस्तित्व की पीड़ा है और तब एक व्यापक प्रश्नचिह्न हमें उद्वेलित करता है । जीवन का चरम अर्थ क्या है ? वह कौन सी वस्तु है जिसमें हम अपने जीवन की सार्थकता ढूंढ़ सकते हैं ? इस प्रश्न का शीघ्र हमें कोई समाधान नही मिलता । आधुनिक जटिल जीवन में किसी प्रश्न का समाधान शीघ्र संभव भी नहीं, हम जल्दी कोई निर्णय नहीं ले सकते, किसी आदर्श एवं मर्यादा पर हमारा विश्वास नहीं रहा । आज का मानव इस मृगतृष्णा से भरे चक्रव्यूही वातावरण में उलझ कर अपने आप से ही प्रश्न करता है—फिर क्या किया जा सकता है ? इसका उत्तर 'अन्धा युग' के श्री कृष्ण हैं । अन्धकार से व्याप्त अंधेयुग में अपने विवेक के आधार पर कोई निर्णय ले कर अपनी परिस्थितियों के अनुसार किसी उद्देश्य का चुनाव कर जीवन की सार्थकता पाना ही एकमात्र उपाय मनुष्य के पास शेष रहता है । भारती के कृष्ण यही करते हैं । अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए परिस्थितिवश वे पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के समस्त दायित्वों का वहन करते हैं । उद्देश्य-प्राप्ति के लिए उन्हें कभी प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ती है, कभी मर्यादा का त्याग, कभी छल एवं असत्य का वरण भी और इसलिए जब गान्धारी का भयंकर शाप उन्हें मिलता है तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार करते हैं—

'माता !
प्रभु हूं या परात्पर
पर पुत्र हूं तुम्हारा, तुम माता हो ।···
···अट्ठारह दिनों के भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूं
करोड़ों बार···
जीवन हूं मैं तो मृत्यु भी तो
मैं ही हूं मां !
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है ।'[2]

इस प्रकार कृष्ण यह स्वीकार करते हैं कि जीवन और मृत्यु, पाप और पुण्य, सत्य और असत्य वे ही हैं । उनका चरित्र एक जटिल व्यक्तित्व के रूप में उभरता है जो प्रभु की अपेक्षा आधुनिक जटिल मनुष्य का प्रतिनिधित्व अधिक करता है ।

कोई भी श्रेष्ठ कृति किसी विशेष युग में लिखी जाकर वहीं नहीं रुक सकती बल्कि उसके भीतर ऐसे भी तत्व छिपे रहते हैं जो उसे हर नये युग के अनुरूप नये रूप में सृजित करते हैं । उसमें अर्थ के ऐसे स्तर विद्यमान होते हैं जो उसे हर युग में

1. अन्धा युग : पृ० 38
2. वही : पृ० 38

युगानुकूल प्रासंगिकता प्रदान करते हैं। कारण यह है कि उसमें मानव-भावनाओं और अनुभूतियों के कितने ही जटिल स्तर विद्यमान होते हैं और हर तरह के पाठक अपनी पाठ-चेतना एवं रूचि के आधार पर उन्हें ग्रहण करते हैं। 'अन्धा युग' ऐसी ही कृति है।

अन्धा युग : संवेदना के धरातल

'अन्धा युग' की भावचेतना तीन स्तरों पर प्रतिफलन प्राप्त करती है—पौराणिक स्तर, युगीन स्तर और मानवीय स्तर। युद्ध के अनुभव का एक स्तर निश्चित रूप से पौराणिक है, उसकी पौराणिक प्रासंगिकता है क्योंकि यह कृति महाभारतकालीन युद्ध के यथार्थ अथवा महाभारतयुगीन सत्य को वाणी प्रदान करती है। इस कृति की भावचेतना का दूसरा स्तर प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के द्वारा लायी गयी मानवीय स्थिति से सम्बन्धित है और तीसरा स्तर मनुष्य के मानस में ही विद्यमान पशुत्व की कामना से है।

लेखक ने संकेत किया है कि युद्ध केवल बाहरी ही नहीं, भीतर भी चलता है। व्यक्ति-मानस में निरन्तर एक युद्ध वृत्ति-विद्यमान रहती है। बाह्य युद्ध तो उस भीतरी युद्ध की अभिव्यक्ति-मात्र है। अर्थ के इन तीन स्तरों के सम्मिश्रण के कारण 'अन्धा युग' किंचित् जटिल हो जाता है किन्तु उसकी यह जटिलता युगीन परिस्थिति की है, मानव-मन की है, मानव-अनुभूतियों की है किन्तु इस कृति में अनुभूतियों की जटिलता ही है उलझाव नहीं, क्योंकि इसकी जटिलता व्याख्येय है, जबकि उलझन अव्याख्येय होती है। अनुभूति एवं भावों की यह जटिलता नई कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है जो किंचित् दुर्बोधता पैदा करती है।

इस कृति में जितने भी पात्र एवं घटनाएँ हैं, वे पौराणिक तो हैं ही, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वे आधुनिक सत्य एवं महायुद्धोत्तरकालीन आधुनिक संवेदना अथवा युगबोध को भी व्यंजित करते हैं। वस्तुतः नये कवि की विशिष्ट मानसिकता ने कृति की समग्र कथा को, महाभारत के घटनाचक्र को एक विशेष क्षण में धारण किया होगा। इसका कारण यह है कि कवि ने दो विश्वयुद्धों के द्वारा मानवता को कुण्ठित होते, आस्था, विश्वास एवं मानवमूल्यों को खण्डित होते तथा व्यापक मानवता का नृशंस हनन होते देखा है। महाभारत-युद्ध में युद्ध की यह बर्बरता वर्तमान थी। महाभारत में धर्मराज जैसे सत्यवादी पात्र को भी विजय एवं गुरु द्रोण की हत्या की कामना से अर्द्धसत्य का अवलम्बन करना पड़ता है और महान् चरितनायक श्रीकृष्ण—जो सभी मर्यादाओं, आदर्शों एवं सत्य के रक्षक हैं—को अनीति के द्वारा किसी एक पक्ष का वरण करना पड़ता है।

युद्ध के उद्देश्य चाहे जितने भी महान् हों, युद्ध सभी को—चाहे वे कितने ही सत्यवादी, आदर्शवादी अथवा मर्यादावादी क्यों न हों—पशु बनने के लिए विवश कर देता है। सच पूछिए तो मात्र स्वार्थ ही युद्ध का कारण है। व्यापक मानवता के हित

के लिए कभी कोई युद्ध नहीं लड़ा गया। युद्ध में मानवता की विजय हो ही नहीं सकती। युद्ध के आमंत्रण का अर्थ है दानवता की विजय और मानवता की निश्चित पराजय। आज के समाज में भी व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि है। स्वार्थ के वशीभूत मानव-मन उचित-अनुचित का विवेक खो बैठा है। आज के युग में भी, महाभारत जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक धृतराष्ट्रों की कमी नहीं दिखाई पड़ती, जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ ने विनाशिक युद्ध की दुंदभी बजाकर भयंकर मानवीय संहार करवाया। आज निरन्तर धृतराष्ट्र जैसे अविवेकी राजाओं की संख्या में श्रीवृद्धि हो रही है। युद्धोपरान्त कटुयथार्थ के पैशाचित विभिन्न रूप-प्रतिरूप हमारे नेत्र-पटल पर अंकित हो कर जीवन की वास्तविकता और औचित्य की निश्चित सीमाओं का अतिक्रमण कर संस्कारों से विकृत और जर्जर कर डालते हैं। समस्त मूल्य और मानदण्डों की आधारशिलाएँ थरथरा कर टूटने लगती हैं, मर्यादाएँ खण्डित हो जाती हैं।

युद्ध की इस बर्बरता एवं विभीषिका से अश्वत्थामा इतना प्रताड़ित होता है कि अन्त में वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, वह समझ नहीं पाता कि वह क्या करे, क्योंकि उसके अन्दर जो भी सत्य था, सुन्दर था, शिव था, कोमलतम रूप था, सब को युद्ध की बर्बरता ने विनष्ट कर दिया। अश्वत्थामा की मार्मिक व्यथा उसके ही शब्दों में सुनिए—

'उस दिन से, मेरे अन्दर भी
जो शुभ था कोमलतम था,
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने कर दी...
उस दिन से मैं हूँ
पशु मात्र, अन्ध बर्बर पशु...।'[1]

× × ×

'हाय मैं क्या करूँगा ?
वर्तमान में जिसके
मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है
एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।'[2]

इस प्रकार युद्ध की विभीषिका से अश्वत्थामा विक्षिप्त हो जाता है, बर्बर पशु बन जाता है। उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रह जाता और जो भी उसके समक्ष आ जाता है, उसकी हत्या कर देना चाहता है। युद्ध की बर्बरता उसके विवेक को नष्ट कर देती है और तब वह परिस्थिति में बर्बरता एवं अन्धकार में

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 34-35
2. वही : पृष्ठ 42

जीने लगता है, परिस्थितियों के माध्यम से गुजरते हुए वह अपने विवेक के आधार पर नहीं जीता।

अश्वत्थामा की यह पशुता एवं बर्बरता आधुनिक विश्वजीवन में भी वर्तमान है जो निकटवर्ती अतीत के दो आणविक महायुद्धों की देन है। आज के विश्व-जीवन में उसी प्रकार की विक्षिप्तता, शून्यता, अनास्था, कुण्ठा, अविश्वास एवं निराशा दिखाई पड़ती है जो कभी महाभारत अथवा 'अन्धा युग' के अभिशप्त पात्र अश्वत्थामा में निहित थी। कहना न होगा कि बर्बरता आधुनिक जीवन का विशेष लक्षण है। बर्बरता प्रागैतिहासिक काल के मानव-जीवन में भी थी किन्तु आधुनिक युग की बर्बरता आदिम मनुष्य की बर्बरता से किंचित् भिन्न प्रकार की है। कारण यह है कि आदिम मानव समाज, सभ्यता, संस्कृति के क्रमिक विकास का भारी बोझ लादे हुए है। आधुनिक युग का संकट दुहरा है—एक ओर सभ्यता संस्कृति के नैतिक पक्ष का आकर्षण है, दूसरी ओर बर्बरता का। इस आकर्षण द्वन्द के युग्म में आधुनिक मानव बुरी तरह व्यथित है। आज यदि कोई व्यक्ति अथवा देश नैतिक बनने का प्रयत्न करता है तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है और तब विवश होकर न चाहते हुए भी उसे अनैतिकता और बर्बरता का वरण करना पड़ता है। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए वह सत्य, नैतिकता अथवा ईमाननारी के विपक्ष में खड़ा हो जाता है। इस प्रकार आधुनिक संवेदना मनुष्यता एवं बर्बरता में विभक्त हो गयी है। इस अन्तर्विरोध को मानवता एवं पशुत्व के द्वन्द्व को कवि ने 'अन्धा युग' में उभार कर तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया है।

यही कार्य धर्मवीर भारती ने 'कनुप्रिया' में भी किया है। किन्तु 'कनुप्रिया' में जहाँ यह कार्य तन्मयता के गहरे क्षण के माध्यम से किया गया हैं, वहाँ 'अन्धा युग' में पाशविकता, बर्बरता के माध्यम से। 'कनुप्रिया' की राधा का भोला प्रश्न, उसकी भोली जिज्ञासा कृष्ण के व्यक्तित्व के अन्तःविरोध को कितनी सफलता के साथ प्रकट करती है—

> हारी हुई सेनाएँ जीती हुई सेनाएँ
> नभ को कंपाते हुए, युद्ध-घोष क्रन्दन-स्वर
> भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
> अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
>
> क्या ये सब सार्थक हैं ?
> चारों दिशाओं से
> उत्तर को उड़-उड़ कर जाते हुए
> गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो
> (जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?'[1]

किसी कृति में आदर्श और संगति खोजने वाले परम्परावादी आलोचक संभव है भारती की इस कृति को इतना महत्व न दें जितना इसे मिलना चाहिए किन्तु आज जब मानव-संवेदना, मनुष्यता एवं बर्बरता के दो खण्डों में विभक्त हो चुकी है—जब सभी आदर्श, विश्वास और मूल्य खोखले सिद्ध हो चुके हैं, तब किसी कवि की रचना में संगति और आदर्श खोजना अनावश्यक है, क्योंकि आज का नया कवि यथार्थ की नग्नता एवं कुरूपता को, जीवन के अन्तर्विरोध को तीव्रता के साथ उभार कर रखने में ही अपने कवि-कर्म की सार्थकता समझता है। इसका अर्थ यह नहीं कि नई कविता कुरूपता अथवा बौनेपन का साहित्य है। नयी कविता एक चतुर व्यक्ति की तरह है जो कुरूपता के साथ केवल दिखावे की मित्रता करता है, उसका लक्ष्य व्यापक मानवता का हित ही है, उसका एकमात्र उद्देश्य जीवन की कुरूपता का पर्दाफाश कर सत्य को उजागर करना है और यह अच्छा ही है, मनुष्य जीवन में कुरूपता का आ जाना भयानक है और उससे भयानक है उसे अस्वीकार करना। उसे स्वीकार कर ही हम मुक्ति पा सकते हैं। भारती की यह कृति परिस्थितियों के भीतर मानव-जीवन की इसी कुरूपता का उद्घाटन करती है।

'अन्धा युग' के अश्वत्थामा के अन्दर की कुरूपता आधुनिक मनुष्य की कुरूपता है, उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की पाशविकता है—उस आधुनिक मानव की जिसके अन्दर निरन्तर एक युद्ध-वृत्ति विद्यमान रहती है। इस तरह अश्वत्थामा केवल पौराणिक पात्र नहीं, आधुनिक मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक बन जाता है। आजीवन गलित कुण्ठा की दारुण यातना झेलने के लिए अभिशप्त अश्वत्थामा मर नहीं सकता है क्योंकि उसे आजीवन पीड़ा पानी है। निरन्तर पीड़ा उसकी नियति है। क्या यही स्थिति आधुनिक मानव की नहीं है ? एक ओर तो आधुनिक मनुष्य मनुष्यत्व की आकांक्षा करता है और दूसरी ओर उसके समक्ष पशुत्व खड़ा करता है। इस द्वन्द्व, इस संघर्ष की पीड़ा में निरन्तर जीते रहना क्या मनुष्य की नियति नहीं है ? अश्वत्थामा की भाँति वह भी न तो ठीक से जी सकता है और न मर ही पाता है। पीड़ा में जीने के लिए वह अभिशप्त जो है।

तत्कालीन आणविक संस्कृति ब्रह्मास्त्रों के युग से पृथक नहीं जान पड़ती। भारती ने महाभारत के शीत और गर्म युद्धों की विभीषिका, घुटन-टूटन को 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर नवीन रूप में प्रस्तुत कर साहित्यकार के दायित्व का

1. कनुप्रिया : भारती : पृ० 70

निर्वाह किया। अणु-शक्ति यदि देश की सृजनात्मक शक्ति में लगे तो एक नव-निर्माण का द्वार खुल सकता है, किन्तु यदि उसका दुरुपयोग हो तो समस्त सृष्टि का कण-कण बिखर कर, टूट कर, विच्छिन्न हो जाएगा। अणु के घातक प्रयोग से तो मिट्टी के अणु भी नहीं मिलते, मरघट की अस्थियों का तो प्रसंग ही व्यर्थ है। आज की मानव पीढ़ी दिग्भ्रमित होकर अणु-शक्ति के निर्माण में संलग्न है। उनके लिए 'अन्धा युग' का प्रकाशन नितान्त सामयिक है। द्वापर-युग की नैतिक तथा राजनैतिक समस्याएं हमारे नेत्रपटल पर एक प्रश्न-चिह्न अंकित कर उसी रूप में आज भी हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं। मानवीय विकृतियों का सबसे प्रमुख कारण है भौतिक संस्कृति का पतनोन्मुख होना और वह निरन्तर विघटन की दिशा में अग्रसर हो रही है। आज के परमाणु-युग पर गूंगे सैनिक की धार्मिक और तीव्र व्यथा एक गहरा व्यंग्य है। वस्तुतः 'अन्धा युग' का व्यास ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले जो विनाशकारी और विध्वंसजन्य दुष्परिणामों की ओर संकेत कर रहा है, वह प्रकारान्तर से अणु-शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली विकृतियों और विनाश की ताण्डव लीला की आन्तरिक और बाह्य पृष्ठभूमि है। इन विकृतियों का बाह्य पक्ष मानस-पटल पर एक चित्र अंकित करता है कि अणु-शक्ति का दानव उन्माद और विनाश का आसव पीकर समस्त कृषि सम्बन्धी मान्यताओं को उन्मूल कर देगा और समस्त भूमि बंजड़ हो जाएगी। आन्तरिक विकृतियां मानस के गीले पट पर अवसाद और कुंठा की गहरी रेखाएँ खींच देंगी जिससे मानव का मस्तिष्क विघटित हो जाएगा और मानव का समस्त विवेक, ज्ञान, प्रज्ञा, लघुता की सीमा से लिपटकर तिरोहित हो जाएगा। व्यास के सशक्त शब्दों में वर्तमान युग के आधुनिक बोध का मूल्यांकन कीजिए -

'मैं हूं व्यास
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का,
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे विकलांग और कुंठाग्रस्त
सारी मनुष्यजाति बौनी हो जाएगी··· ।'[1]

विद्वान् लेखक ने वर्तमान युग की अन्धता का प्रतीक गान्धारी द्वारा स्वीकार अन्धता को बनाया है किन्तु दोनों की अन्धता का मूल्यांकन हम एक दृष्टि से नहीं कर सकते, दोनों की अन्धता को हम समता के परिप्रेक्ष्य में नहीं देख सकते क्योंकि गान्धारी ने अन्धता का वरण किया है, यह उसकी इच्छापूर्ति न थी, उसकी

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 92, 93

आत्मगति थी किन्तु वर्तमान युग में जो अन्धता, टूटन, विकृति व्याप्त है वह उसका विवशता और उत्तरदायित्व से थका हुआ भाग्य है।

'हम संक्रान्ति-काल के प्राणी लिखा नहीं सुखभोग' में 'दिनकर' की जो पीड़ा से आक्रान्त दर्दभरी विवशता है, उसका प्रतिरूप है 'अन्धा युग'। आज हमारी आत्मा आधुनिक युग की नियति के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत विकृति, टूटन, विसंगति, विकलांगता आदि को स्वीकार करने में उसी प्रकार विद्रोह कर रही है, जिस प्रकार विकलांग धृतराष्ट्र को अपने समक्ष देखने और स्वीकार करने में गान्धारी की आत्मा कराह उठी थी। फिर भी, एक विभाजक रेखा तो स्पष्ट ही है कि स्थिति विशेष के सन्दर्भ में ही गान्धारी ने अन्धता का सिन्दूर अपनी मांग में भरा और हमारे लिए अन्धता का वरण करना किसी भी स्थिति में सहज नहीं है। गान्धारी ने अन्धता का आलिंगन किया था और अन्धता ने हमारा आलिंगन किया है।

सर्वत्र अनास्था युद्ध-संस्कृति तथा आत्मघाती मनोवृत्ति से निर्मित 'अन्धा युग' का परिवेश, सत्य, मर्यादा तथा दायित्व के प्रश्नों को उभारता है। लेखक के विचारों को पूर्ण मान्यता देने पर भी लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'अन्धा युग' को निराशावादी अनास्थापूर्ण कृति नहीं स्वीकार किया। उनके विचारानुसार जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्तता ही उसकी कथा में विवेक को प्रकाश दे सकती है। इस लिए उसका स्वर अशक्त निराशा का स्वर नहीं है। उसमें खिन्नता का दोष नहीं है। उसमें विष नहीं वरन् प्रकाश की, सत्य को स्थापित करने की तड़प है।'[1] इसीलिए युयुत्सु के चरित्र में मानवीय स्तर के विवेक में ईश्वर की व्यापकता बोलती है। उसकी आस्था का साकार चित्र कृष्ण है—'है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की—।' विकृतियों के परिप्रेक्ष्य में नयी नैतिकता की मांग स्वाभाविक तो है, पर उतनी ही कठिनता की उलझनों, सीमाओं में जकड़ी हुई। यहां रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। उनके शब्द हैं—'ऐसे समय में निराशा, पलायनवाद तथा ह्रास से ऊपर उठकर कलाकार का दायित्व नयी मर्यादा के स्थापन का होता है। परन्तु यह दायित्व सुधारक अथवा उपदेशक के स्तर का होता है जिसमें कला का अस्तित्व नहीं रह जाता। मूल्यों के विघटन के समय साहित्य सृजन इसीलिए कठिन अध्यवसाय तथा गहरी संवेदना की अपेक्षा रखता है। कलाकार को सामाजिक विकृतियों के बीच में रखकर पहले तो अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी पड़ती है और फिर नये मूल्यों तथा प्रतिमानों को निर्मित करना होता है। अपने तथा पाठक के व्यक्तित्वों के प्रति इस दोहरे व्यक्तित्व के बाद उसे अपनी सम्वेदना को उपदेशात्मक मनोवृत्ति में परिणत हो जाने से बचाना पड़ता है। उपदेशक का कार्य हेय नहीं है, पर कवि-कर्म उससे निश्चय ही भिन्न तथा दूसरे स्तर का है।[2]

1. नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृष्ठ 75
2. हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृष्ठ 87-88

'भारती' का 'अन्धा युग' उपरोक्त सभी मानदण्डों की कसौटी पर खरा उतरता है। 'अन्धा युग' की भूमिका में कवि ने अंकित किया है—कुंठा, निराशा, रक्तपात, विकृति, कुरूपता, अन्धापन—इनसे हिचकिचाना क्यों ? इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुए हैं, तो इनमें निडर क्यों न धँसू । इनमें धंस कर भी मैं मर नहीं सकता[1] और अपनी इस उपलब्धि की अनुभूति को कवि ने सामाजिक मर्यादा की शालीनता से बाँधे रखा। मैंने जब वेदना सबकी भोगी है तो जो सत्य पाया है वह अकेले मेरा कैसे हुआ ? एक धरातल ऐसा भी होता है जहाँ 'निजी' और 'व्यापक' का बाह्यान्तर मिट जाता है। वे भिन्न नहीं रहते। 'कह्यित भिन्न, न-भिन्न।'[2] कथानक और प्रेरणा की यथार्थता को समेटे 'अन्धा युग' की भावभूमि की यह लोक-सम्पृक्ति जो नयी कविता की प्रवृत्ति विशेष है, अभिन्न अंग बन गई है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा विश्वास की एक ठोस भावना एक मनःस्थिति की जन्मदात्री हो सकती है। भारती ने जो कृष्ण के चरित्र को एक इतिहास नियन्ता व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया, वह दोनों स्थितियों में आचरण की मर्यादा की स्वीकारोक्ति है—

> "पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में,
> साहस में स्वतन्त्रता में नूतन सर्जन में
> वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
> दायित्वयुक्त मर्यादित मुक्त आचरण में।"[3]

अन्तिम दो पंक्तियों में भारती ने जो मानववादी आधारभूमि प्रस्तुत की, उसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सम्पृक्त रूप स्पष्ट है। मानव में नियति को स्वीकार करने की जो भावना निहित है उसके साथ-साथ उत्तरदायित्व की भावना उससे अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। यह व्यक्ति-स्वतन्त्रता की एक ऐसी ज्योति है जो उसकी आस्था का सीमा-चिह्न है और इसी परिप्रेक्ष्य में आधुनिक चिन्तन-क्रम की धारा में व्यक्ति स्वतन्त्रता को एक अनिवार्य रूप मूल्य के रूप में स्वीकारा गया क्योंकि स्वतः ही उत्तरदायित्व की भावना उसमें समाहित है।

अपने इस दृश्यकाव्य में भारती ने उद्घोषणा में ही आज के आधुनिक जीवन में व्याप्त शोषक और शोषित की समस्या को स्वर देकर अपनी प्रखर स्वचेतना का परिचय दिया है। उन्होंने उद्घोषणा में कहा है कि धर्म एवं अर्थ पतनोन्मुख हो जायेंगे, धीरे-धीरे धरती विनाश के गहरे गर्त की ओर खिसकती चली जाएगी। सत्ता केवल उन्हीं के हाथों में होगी जिनके हाथों में पूँजी होगी। भौतिक ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्तियों

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 1-2, 2
2. वही : पृष्ठ 2 (भूमिका)
3. वही : पृष्ठ 130

को ही महत्व मिलेगा, जो अपने चेहरे पर एक नकली मुखौटा ओढ़े रहेंगे, अर्थात् जिनके कथनी और करनी, विचार और कर्म में कोई सामंजस्य नहीं होगा। राज्य-सत्ता केवल अपना लोलुपतामय स्वार्थ साधन करती रहेगी, व्यक्ति समाज एवं देश के कल्याण की चिन्ता कम करेगी और तब स्थिति इस प्रकार भयाक्रान्त हो उठेगी कि राजशक्तियों के डर से सामान्यजन उसी प्रकार अपने कुण्ठित अन्तर्मन की गहन गुफाओं में छिप जायेंगे जैसे आदिम अवस्था में मनुष्य पशु-भय से पर्वत की गुफाओं में भाग कर छिप जाया करते थे। आज जनसाधारण के लिए सुख आकाश-कुसुम बन गया है, वह केवल पूँजीपतियों की तिजोरियों तक ही सीमित है।

आधुनिक शासनतन्त्र की अव्यवस्था और अराजकता किसी से छिपी नहीं है। युधिष्ठिर के प्रहरियों के शासन-सम्बन्धी वार्तालाप में आधुनिक शासन-व्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया गया है—

हम जैसे पहले थे वैसे अब भी हैं
शासक बदले
स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे लेकिन वे शासन तो करते थे।[1]

इसी प्रकार कथा-गायन की पंक्तियों को सन्दर्भित करना अधिक उपयुक्त होगा। अंधी शासन-व्यवस्था का अंग बन कर यंत्रवत कार्य करने का अभिशाप केवल प्रहरियों को ही नहीं झेलना पड़ रहा। प्रकारान्तर से आधुनिक मानव की भी यही पीड़ा है।

आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे-धीमे
× ×
जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे।[2]

ऐसा लगता है मानो अंकित पंक्तियाँ दुःख के भीतर से घुलकर निर्मल हो गयी हैं। महाभारत-युद्ध की पीड़ा घड़े में समाने वाली बूँद की तरह विलीन हो गई है। विवेक, मर्यादा और अंधत्व इन तीनों को एक ही बिन्दु पर कवि झेल रहा है। कवि अनुभव करता है कि विवेक हार गया, मर्यादा टूट चुकी है और सिंहासन पर अन्धापन बैठा हैं। यहाँ यह अन्धापन प्रतीक बन जाता है, जिस प्रकार महाभारत में अंधों के द्वारा युग का सिंहासन सुशोभित था, आज भी अन्धों के द्वारा ही युग का सिंहासन सुशोभित है। अतः धृतराष्ट्र के स्थूल अन्धेपन के तथ्य को खण्डित करके ये

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 107
2. वही : भारती : पृष्ठ 27-28

पंक्तियाँ दूसरा अर्थ निर्मित करती हैं और ये पंक्तियाँ राज्य और व्यक्ति के भीतर निहित अमर्यादा और अन्धेपन को व्यक्त करने लगती हैं, अर्थात् धृतराष्ट्र के अन्धेपन की स्थूलता सूक्ष्म मानसिक स्तर में परिवर्तित हो जाती है। महाभारत-युग का शासन सत्तान्ध व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था जो विवेक और मर्यादा को देख नहीं पा रहे थे। आज भी क्या विश्वस्थिति कुछ उसी प्रकार की नहीं है ? हर देश की विदेश नीति अपने देश के स्वार्थ की चिन्ता करती है, व्यापक मानवता, सत्य अथवा विवेक की नहीं। यह पंक्तियाँ जहाँ महाभारतकालीन अविवेक, खण्डित मर्यादा एवं अन्धत्व को व्यक्त करती हैं, वहाँ आधुनिक विश्वयुगीन अविवेक को भी जो मानवता को कुचलने के लिए सिद्धान्तों का कुचक्र चलाती हैं। इस प्रकार महाभारत-काल की यह पीड़ा आधुनिक मानव-मन की पीड़ा को भी उद्घाटित करती है। कथागायन की यह पीड़ा समग्र कृति में विद्यमान मिलेगी।

खाली स्टेज पर दो सशक्त प्रहरी वार्तालाप करते हैं। ये प्रहरी सत्रह दिनों तक इसी प्रकार पहरा देते रहे हैं। सम्पूर्ण मंच पर युद्ध की अन्तिम संध्या का सूनापन छा रहा है और ये दो प्रहरी लगता है कि उदासी और शून्यता की ही रक्षा कर रहे हैं। यहाँ गम्भीर परिस्थिति के जिस वातावरण का निर्माण किया गया है वह अर्थमयी है। वातावरण-निर्माण कवि ने उस भाषा के द्वारा किया है जो जीवन के समान ही गम्भीर-भंगिमा धारण किए हुए है। ये पंक्तियाँ शाब्दिक संरचना के स्थान पर एक अलग अवधारणामूलक भाषिक संरचना प्रस्तुत करती हैं। इन पंक्तियों में जो एक प्रभावोत्पादक शक्ति अन्तर्निहित है, वह तथ्य कथन से अलग भाषा के किसी और संरचना-विधान से आई है। यह कथन मात्र नहीं है। इसकी प्रत्येक पंक्ति शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त संकेत देती है। कवि शब्दों के माध्यम से उस सम्पूर्ण स्थिति का साक्षात्कार कराता है जिसमें युद्ध के बाद उदासी और शून्यता छायी है और हमारा मन-प्राण उस शून्यता एवं उदासी को स्पर्श के धरातल पर ग्रहण करता है और तब यह अनुभव तात्कालिक अनुभव स्पर्शजन्य प्रत्यक्षता उत्पन्न करता है। इसलिए यह पंक्तियाँ जीवन की सहजता के समान हैं। इन पंक्तियों में वह जीवनधर्मिता विद्यमान है जो शाब्दिक तथ्य कथन से अलग है।

कथा में कवि पुनः एक व्यतिरेक उपस्थित करता है। एक ओर तो मंच पर उदासी टहलती है और दूसरी ओर प्रहरी टहलते हैं। प्रहरियों की पदचाप उदासी और शून्यता की सतह को तोड़ती है और उनके अन्दर जो पीड़ा वर्तमान है, उसे छलछला देती है। रंगमंच पर टहलने वाले बूढ़े प्रहरियों की पदचाप और वार्तालाप उदासी और शून्यता को बेध कर उसे और भी गहरा कर जाते हैं।

प्रहरियों के वार्तालाप में व्यंग्य, विडम्बना और परितप्त वेदना वर्तमान है। प्रहरियों की पीड़ा वैयक्तिक न होकर आधुनिक मनुष्य की पीड़ा का संकेत देती है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे अहसास से थके हुए हैं। इन्होंने सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में भाग तो नहीं लिया किन्तु राजमहल के सूने गलियारे में पहरा देते रहे। ये तो शारी-

रिक स्तर से अधिक मानसिक स्तर पर थके हुए जान पड़ते हैं। उनका सारा कर्तव्य कर्म निरुद्देश्य है और निरर्थक प्रयत्न थकान और व्यक्तित्व को विघटन के अतिरिक्त दे ही क्या सकता है। ये प्रहरी युद्ध में भाग लेकर अपने भाले अर्थात् सामर्थ्य का उपयोग कर सकते थे किन्तु जब उन्हें अवसर नहीं मिलता तब वह सामर्थ्य व्यर्थ होकर उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व को ही विघटित करने लगती है और यह विघटन मानसिक थकान बन कर छा जाता है।

उनके समक्ष अब एक मूलभूत प्रश्न सशक्त रूप में उपस्थित होता है कि उनके जीवन की सार्थकता आखिर क्या है? वे अब अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें एक विकृत शासनतन्त्र के नीचे दबा रहना पड़ा है। मात्र पहरा देना उनका काम है। यह कर्तव्य-कर्म कुछ भी सार्थक नहीं मालूम पड़ता है जबकि रक्षणीय कुछ भी नहीं है। उनका जीवन और कर्तव्य-कर्म शासन-व्यवस्था का ही एक यांत्रिकीकरण होकर रह गया है। शासनतंत्र के लौह अस्थि-पंजर में उनकी स्वतन्त्रता, कोमल भावनायें, उनका उद्देश्य—सब कुछ समाप्त हो गया है और उनका जीवन भी शासनतन्त्र का ही एक अंग बनकर रह गया है। जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है तब पहरा देने का अर्थ क्या है? किन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि उन्हें न चाहते हुए भी निरुद्देश्य पहरा देना पड़ता है। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं बल्कि प्रतीक भी हैं। हरेक मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अन्धकार है, जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेछानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है; जीना उसके लिये भार बन जाता है। कम लोग हैं जो जीवन जीते हैं, ऐसा लगता है कि समय ही उन्हें जीता है, सोखता है। लेकिन समय को हम जीयें न कि समय हमें जीये। यह तभी सम्भव है जब हर प्रकार से हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हो और जब वह हमें नहीं मिलती तब उन बूढ़े प्रहरियों की तरह ही हमारा जीवन भी व्यर्थ हो जाता है; जीवन यांत्रिक हो जाता है। इस प्रकार प्रहरियों का वार्तालाप मूलभूत प्रश्न जीवन-सत्य का स्पर्श करता है।

प्रहरी के जीवन और रक्षणीय वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं है और जब बिना सम्बन्ध के कर्म में प्रवृत्त हुआ जाता है तब एक शून्यता और मरुस्थल का उदय होता है। सत्रह दिनों तक वे लगातार घुट-घुट कर जीते हैं और उनका व्यक्तित्व विघटित होता चला जाता है। सत्रह दिनों का कार्य अन्ततः निरर्थक प्रमाणित होता है और यह निरर्थकता उन्हें तोड़ने लगती है। केवल सम्बन्ध की शून्यता नहीं है, सम्बन्ध विकृत रूप में है। उन्हें सभ्यता-संस्कृति की इस विकृति की रक्षा न चाहते हुए भी करनी पड़ती है और यह विकृति अन्तरात्मा का ध्वंसावशेष करती चली जाती है। न तो ये अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाते हैं और न विकृति का प्रतिरोध कर पाते हैं और तब ये निष्क्रिय नपुंसकता में परिणत होते चले जाते हैं किन्तु वे समर्थ हैं।

उनके पास अपना विवेक भी है, जिसके आधार पर वे अपने अनुभवों एवं कार्यों का मूल्यांकन करते हैं। यह विवेक और समर्थता उनकी पीड़ा को और भी तीव्रता प्रदान करते हैं। यह विवेक उन्हें सालता है। समस्त युद्ध-क्रिया ही जब अविवेक से परिचालित है, तब उनका विवेक उन्हें पीड़ित करता है। सत्रह दिनों के युद्ध का अनुभव बार-बार उन्हें काटता है और तब ये प्रहरी व्यापक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक बन जाते हैं, उस मानव की नियति के जिसके समक्ष आज न तो कोई मार्ग है न चुनाव की स्वतन्त्रता। जो अन्धेरे में जीवन के सूने गलियारे में निरुद्देश्य भटक रहा है और निरुद्देश्य भटकाव थकान को जन्म देता है। आधुनिक जीवन पर इस रिक्तता ने संवर डाल दिया है। रिक्तता के कारण अतीत का उपयोग नहीं कर पाते, वर्तमान को दोषी नहीं मानते, भविष्य हमारे लिए उपयोगी रहता ही नहीं। आधुनिक मानव की यही दायित्वहीन पीड़ा उसे मथती है।

शासन-तन्त्र के नेतृत्व वर्ग के शासकों की स्थिति भी पुष्ट नहीं है। इस यातना और पीड़ा का प्रतिरूप युधिष्ठिर में उभरा है। युधिष्ठिर का मार्मिक कथन विजयी होकर भी अचिन्त्य वेदना की अभिव्यक्ति से लिपट जाता है—

> "ऐसे भयानक, महायुद्ध को
> अर्द्धसत्य, रक्तपात हिंसा से जीत कर
> अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
> यह भी यातना ही है···
> ···सिंहासन प्राप्त हुआ है जो
> यह माना कि उसके पीछे अन्धेपन की
> अटल परम्परा है;[1]

इस प्रकार आज का शासक और शासित दोनों ही दुःखों और कष्टों की श्रृंखलाओं से आबद्ध हैं। युद्ध की विनाशपूर्ण ताण्डवलीला और उससे उत्पन्न भयाक्रान्त, भयावह संहारक विभीषिका शासक की सबसे बड़ी और प्रत्यक्ष पराजय है। धृतराष्ट्र के शब्द उसे वाणी दे रहे हैं—

> "गूंगों के सिवा आज
> और कौन बोलेगा मेरी जय ?"[2]

इस प्रकार आज के आधुनिक युग की एक अन्य समस्या भाई-भतीजावाद को भी भारती ने समय के अनुरूप वाणी दी। इसका संकेत धृतराष्ट्र के शब्दों में निहित है—

> "पर वह संसार
> स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 104
2. वही : पृष्ठ 49

मैंने अपने वैयक्तिक सम्वेदन से जो जाना था...
...कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य ।"[1]

तटस्थ पर्यवेक्षक व्यक्ति दोनों पक्षों में से किसी पर भी अपना प्रभाव डालकर अपने पूर्ण कर्तव्य की पूर्ति नहीं कर सकता। उसका व्यक्तित्व नपुंसक की सीमा से कुंठित हो जाता है। संजय का कथन तटस्थता की आधुनिक स्थिति को व्यर्थ सिद्ध कर रहा है—

"मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता...;
...और उसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता ।"[2]

संजय जहाँ महाभारत का एक ऐतिहासिक पात्र है, वहीं आधुनिक मानव का भी, उस मानव का जो सचेत है, विवेकशील तथा तटस्थ है। यह एकमात्र पात्र जो तटस्थ, सचेतन एवं विवेकशील है, जो मर्यादा, नैतिकता एवं सत्य को खण्डित होते हुए देखता है, जो तटस्थ होकर भी भटक रहा है, अन्धेरे में छटपटा रहा है—

"वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कण्टक पथ पर ।"[3]

"भारती का समस्त काव्य नये भाव-बोध पर आश्रित आधुनिकता का पोषक है। वह आधुनिकता केवल कालगत भाव में नहीं वरन् चिन्तन विधि में है, दृष्टिकोण और विवेक में हैं, जीवन की स्पष्ट व्याख्या तथा ऐतिहासिक दायित्व में है, बल्कि इससे भी आगे वह आधुनिक इसलिए है कि आज के जीवन-सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयोग करता है। उसकी दृष्टि पिटी-पिटाई लकीर से दूर अन्वेषणगत है, परीक्षणजन्य है। उसमें तर्कगत अवलोकन है, उसके आधार पर परीक्षण करके किसी समुचित निष्कर्ष पर पहुंचने की अदम्य लालसा है ।"[4]

इस प्रकार सुदूर अतीत के पटल से 'अन्धा युग' के प्रतिपाद्य को अंकित कर भारती ने तत्कालीन आधुनिक बोध को व्यंजित करने का सफल एवं सशक्त प्रयास किया है। डॉ० शंकरदेव अवतरे ने भारती के विषय में अपनी विचारधारा को यों शब्द-

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 17-18
2. वही : पृष्ठ 74
3. वही : पृष्ठ 28
4. आलोचना (दिसम्बर 1966) : पृष्ठ 64

बद्ध किया—"...समसामयिकता की इतनी सन्निहित ऐतिहासिक कल्पना करने वाला 'भारती' के समकक्ष हिन्दी साहित्य में अभी एक ही व्यक्ति हुआ है और वह है 'प्रसाद'। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश की कल्पना के सहारे जैसे इस युग की बौद्धिकता की विध्वंसात्मक रचना का युग-युग व्यापी समाधान विचित्र किया है, उसी प्रकार 'अन्धा युग' में अन्धकार के सहारे शाश्वत प्रकाश की कथा व्यंजित की गई है। यह उद्देश्य इसे महाकाव्य की क्षमता दिलाता है।"[1] इसे महाकाव्यात्मक कोटि में ले जाना तो शास्त्रीय टक्कर को जन्म देना है। 'अन्धा युग' के उद्देश्य पर विचार करते हुये नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में कह सकते हैं कि 'आधुनिकी प्रवृत्ति के दूसरे उन्मेष में वर्तमान पीढ़ी का ऐतिहासिक संताप तथा विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में व्यापक सांस्कृति संक्रमण का सबसे मुखर स्वर धर्मवीर भारती के कृतित्व में है जो 'पराजित पीढ़ी' के गीत से लेकर 'अन्धा युग', 'कनुप्रिया', 'सृष्टि का आखिरी आदमी' और 'सम्पात्ति' तक उत्तरोत्तर समृद्ध हुआ है। भारती में अर्द्धसत्य, और वस्तुसत्ता का ऐसा कलात्मक सामंजस्य है जो इन्हें दूसरे चरण के कृतिकारों से अलग पीठिका पर प्रतिष्ठित कर देता है। 'अन्धा युग' निस्सन्देह आधुनिक काव्याधारा की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है।"[2]

अतः 'भारती' की इस आलोच्य कृति का ऐतिहासिक पौराणिक पृष्ठभूमि पर सम्वेदित युगबोध हिन्दी-नई-कविता की एक नई अन्यतम अर्जित निधि है।

1. हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों का प्रयोग : डा० शंकरदेव अवतरे : पृष्ठ 115
2. नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ : गिरिजा कुमार माथुर : पृष्ठ 17

तृतीय अध्याय

अन्धा युग : प्रारूप (काव्यनाटक या गीति-नाट्य ?)

आधुनिक नाट्य-काव्य भी इस युग के साहित्य की विविध काव्य-विधाओं के मिश्रण की प्रवृत्ति के परिणाम हैं, जिनमें नाट्य तथा काव्य-तत्व का सम्मिश्रण पाकर नया रूप उभरता है। इसी आधार पर टी० एस० इलियट ने यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि प्रत्येक कविता नाटकीयता की ओर और प्रत्येक नाटक कवित्व की ओर उन्मुख होता है।[1] आज ऐसी अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो स्थूल रूप से समान काव्य-विधा से सम्बद्ध होती हुई भी रूपाकार, शिल्पगत अथवा आत्मगत अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर के कारण परस्पर भिन्न है। इसी पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के आधार पर आधुनिक आलोचनाशास्त्र में पद्यबद्ध नाटक (Poetic Drama), गीति-नाट्य (Lyrical Drama) व नाटकीय कविता (Dramatic Poetry) तथा नाट्य-गीति (Dramatic Lyric) जैसी सर्वथा नवीन काव्य-विधाओं की सूचक पारिभाषिक शब्दावली की अवतारणा हुई। स्थूलः नाट्य काव्यों के दो भेद किये गए हैं—(1) नाटकीय कविता (2) काव्य-रूपक।

तत्कालीन युग की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का आलोक-स्तम्भ 'अन्धा युग' भारती का श्रेष्ठ काव्य-रूपक है। काव्य-रूपक का अर्थ काव्य में रचित रूपकों से है। इसको कई भेदों में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु काव्य-रूपक के दो ही प्रधान भेद हैं—काव्य-नाटक और गीतिनाट्य। काव्य-नाटक की धुरी पर घटना और क्रिया-व्यापार का चक्र प्रधानतया महत्व पाता है तथा चरित्र-सृष्टि का क्रमिक विकास कथानक की संघटन शक्ति आदि सभी तत्व नाटक की भाँति समाहित होते हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम काव्यात्मक होता है और वह काव्यात्मक अभिव्यक्ति छन्दोबद्ध अथवा छन्द से मुक्त किसी भी रूप का आश्रय ले सकती है।[2] हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण धरातल पर प्रायः अधिकांश काव्य-नाटक मुक्त छन्द में रचित हैं। गीति-नाट्य की संवेदना किन्हीं स्तरों पर काव्य-नाटक से भिन्नता प्राप्त कर लेती है। उसका मूल केन्द्रबिन्दु मनोराग गीति काव्यात्मक अर्थात् आत्मनिष्ठ, अन्तर्मुखी और संगीतमय तारों से सम्पुष्ट होता है। गीति-नाट्य में घटना-व्यापार की अपेक्षा भाव-

1. T.S. Eliot : Selected Essays (A Dialogue on Dramatik) p. 52
2. आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र, द्रष्टव्य पृष्ठ 68

विस्तार को प्रमुखता दी जाती है। डा० निर्मला जैन के मतानुसार—"एक ओर गीति-नाट्य का गीतितत्व उसे सामान्य पद्य-नाट्य से भिन्न करता है, दूसरी ओर उसमें अभिनेयता नाट्य-कविता से उसका व्यावर्तन करती है। अतः गीति-नाट्य काव्य-रूपक का ही एक भेद है जिसमें अन्तर्मुखी संघर्ष का अंकन गीति के माध्यम से होता है।[1] श्री कृष्ण सिंहल ने अपने मत को पुष्ट करने के लिए अपनी पुस्तक 'हिन्दी के गीतिनाट्य' में काव्य-नाटकों और गीति-नाट्यों को एक ही श्रेणी में रख कर उनका मूल्यांकन किया है और दोनों को ही 'गीति-नाट्य' शब्द की संज्ञा देकर इसी का प्रयोग किया है।[2] किन्तु मेरी दृष्टि में डॉ० निर्मला जैन द्वारा किया गया वर्गीकरण और विवेचन अधिक वैज्ञानिक बैठ पाता है और हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि तुकान्त अथवा अतुकान्त छन्द में रचित सभी काव्यात्मक नाट्य रचनायें काव्य-रूप के अन्तर्गत ही हैं। इसके अनेक भेदापभेद हो सकते हैं किन्तु मुख्यतया इनके दो भेद हैं—गीति-नाट्य और काव्य-नाटक।

काव्य-रूपक का अभिप्राय ही नाट्य-तत्व और काव्य-तत्व दोनों का सम्मिश्रण है। काव्य-तत्व होने से उसमें मानव-जीवन के रागतत्व की प्रमुखता होती है, भावनायें और अनुभूतियाँ तीव्र वेग के साथ गतिमय प्रवाहात्मकता को समेट लेती हैं और नाट्य-तत्व के कारण उसमें कथावस्तु और बहिर्जगत् का चित्रण होता है। इस प्रकार काव्य-रूपक में मानव का अन्तर्जीवन और बहिर्जगत चित्रण की समान रेखाओं में अभिव्यक्ति पाता है। काव्य-रूपक के सम्बन्ध में भाषा-शैली के प्रश्न को उठाते हुए यहाँ कहना उपयुक्त होगा कि उनकी भाषा छन्दोबद्ध, लयपूर्ण तथा अलंकृत होनी चाहिए जिससे वह नाटक के स्वरूप ग्रहण के अनुकूल हो सके। भावनाओं की तीव्रता के क्षण भाषा को स्वतः ही लयपूर्ण बना देते हैं। टी० एस० इलियट की यह बात बिलकुल सत्य है कि "भावावेग के क्षणों में मानव-आत्मा पद्य में ही अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास करती है। अतः यदि संगीतात्मकता के पीछे तीव्र अनुभूति और भावावेग है तो वह सहज स्वाभाविक प्रतीत होती है।"[3] बिम्ब-प्रधान भाषा होने से भावों की गहनता और सघनता के साथ-साथ पात्रों के चरित्र को भी प्रकाश मिलता है, जिससे उनकी चरित्रगत महत्ता दृष्टिगत हो जाती है। अतः हम साथ-साथ 'अन्धा युग' के संवादों, छन्द, भाषा, संघर्ष आदि पर विचार करते चलेंगे।

यहाँ से हम लेखक के निर्देश में दिए गए वक्तव्य की ओर मुड़ते हैं। भारती ने 'अन्धा युग' के निर्देश में 'अन्धा युग' के लिए 'नाटक', 'दृश्य-काव्य', 'गीति-नाट्य' और 'काव्य' चार नामों का उल्लेख किया है—

(क) "इस 'दृश्य-काव्य' में जिन समस्याओं को उठाया गया है उसके सफल

1. आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ : डा० निर्मला जैन : पृष्ठ 264
2. हिन्दी गीति-नाट्य खण्ड : द्रष्टव्य'
3. Poetry and Drama. T.S. Eliot, p. 12

निर्वाह···।"[1]

(ख) 'अभी इस प्रकार के नाटकों की परम्परा का हिन्दी में सूत्रपात ही हो रहा है।'[2]

(ग) "···न केवल इन गीतिनाट्यों वरन् समस्त नई कविता के प्रभावोत्पादक पाठ की अमित···।"[3]

(घ) "मूलतः यह 'काव्य' रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था···।"[4] लेखक के वक्तव्य के गम्भीर विचार-विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष ध्वनित होता है कि भारती 'अन्धा युग' को गीति-नाट्क स्वीकारते हैं क्योंकि काव्य तो प्रत्येक दृश्य अथवा श्रव्य होता ही है, इसमें शंका समाधान का कोई प्रश्न ही नहीं। नाटक दृश्य-काव्य का ही पर्याय कहा जा सकता है या नाटक भी दृश्य-काव्य का ही नाम है। गीति-नाट्य अवश्य एक विशिष्ट स्तर का दृश्य-काव्य-रूप है। अतः हम लेखक के ध्वनित मतानुसार 'अन्धायुग' को गीति-नाट्य मानकर ही उस पर विचार-विश्लेषण करेंगे।

'अन्धा युग' कई दृष्टियों से हिन्दी गीति-नाट्य धारा की परम्परा में एक नवीन और स्वस्थ मोड़ उपस्थित करता है। इसीलिए 'अन्धायुग' के नाट्य-रूप को अपने आप में एक उपलब्धि बताते हुए श्री नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं कि 'अंधा युग' का नाट्य-रूप अपने आप में एक उपलब्धि तो है ही, साथ ही वह हिन्दी नाटक के लिए नयी सम्भावनाओं को भी सूचित करता है, विशेषकर हमारे प्राचीन संस्कृत तथा लोक नाट्कों के यथार्थवादी नाट्य-व्यवहारों के नयी दृष्टि से अन्वेषण और प्रयोग की सार्थक सम्भावनायें प्रस्तुत करता है।'[5] 'अन्धा युग' से पूर्व के गीति-नाट्य एकांकी गीति-नाट्य थे और उनमें व्यापक कथावस्तु का समावेश नहीं हो सकता था क्योंकि उनकी संकुचित सीमायें व्यापक कथावस्तु को अपने अन्दर समाहित करने में असमर्थ थीं। केवल सेठ गोविन्ददास कृत 'स्नेह या स्वर्ग' (1946) में तीन अंकों का नियोजन है। 'अनघ' (1925) तथा 'उन्मुक्त' (1940) आकार की दृष्टि से इनका पट-परिवेश विस्तृत होते हुए भी इनका विभाजन अंकों में नहीं है। अतः 'अन्धा युग' हिन्दी का एकांकी गीति-नाट्य न होकर सर्वप्रथम पूर्ण गीति-नाट्य है। इसका विभाजन क्रमशः कौरव-नगरी 'पशु का उदय', 'अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य', गान्धारी का शाप' और 'विजय एक क्रमिक हत्या' पाँच अंकों में किया गया है। भारती ने इन अंकों के अतिरिक्त प्रारम्भ में 'स्थापना-अन्धा युग', मध्य में 'अन्तराल', पंख, पहिए और पट्टियाँ' तथा अन्त में 'समापन-प्रभु की

1. अन्धा युग : निर्देश, भारती : पृष्ठ 4
2. वही, पृष्ठ 5
3. वही : पृष्ठ 5
4. वही : पृष्ठ 5
5. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : सं० डा० महेन्द्र भटनागर : पृष्ठ 77

मृत्यु' की नियोजना भी की है। वृत्त की दृष्टि से भी इसमें नवीनता का समावेश है। गीति-नाट्यों की परम्परा में अभी तक अतुकान्त छन्दों को प्रयोग में लाया जाता रहा है किन्तु निराला के 'पंचवटी प्रसंग' के पश्चात 'अन्धा युग' में आकर इस परम्परा ने मुक्त वृत्त का रूप धारण कर लिया। मुक्त वृत्त की नवीन कुशल प्रयोगशीलता के कारण 'अन्धा युग' रंगमंच के उपयुक्त तथा भावाभिव्यंजना में अधिक सुष्ठु और समर्थ होकर पाठकों और दर्शकों के सामने प्रस्तुत हुआ। 'अन्धा युग' में पूर्ववर्ती गीति-नाट्यों की अपेक्षा अत्यन्त प्रख्यात तथा मर्म को तीव्रता से स्पर्श करने वाली विस्तृत कथावस्तु को समाहित किया गया किन्तु नाटककार की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, कथा का रूप-विन्यास, पात्रों की मार्मिक अभिव्यंजना, उनकी उर्वर कल्पना और गम्भीर चिन्तन-मनन शक्ति की परिचायक है। 'अन्धा युग' में उन आन्तरिक सत्यों को विश्लेषित किया गया है जिन्हें देश और काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। इसके मूल बिन्दु के नीचे मानव-इतिहास के पृष्ठों पर चिरनवीन, चिर-अंकित, चिरन्तन युद्ध-दर्शन का प्रश्न रहा है। इसके लोमहर्षक परिणामों और नृशंसताभरी ताण्डवलीला को जानते-बूझते हुए भी मानव-इतिहास के पृष्ठों से इसका अस्तित्व निर्मूल नहीं कर पाया। सूक्ष्म जीवन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक अभिनयात्मक वृत्तियों से गुम्फित और अपूर्व काव्यात्मकता के कणों से अलंकृत कलात्मकता के मणिकांचन समन्वय ने 'अन्धा युग' के गौरव और महत्व को बढ़ाकर स्थिर कर दिया है। 'अन्धा युग' का महत्व यहीं निर्विवाद हो जाता है कि गीति-नाट्य के मूलभूत सूक्ष्म तत्व दृश्य-काव्यकार की सहज उच्छलित प्रतिभा से स्पष्ट और स्वाभाविक रूप में विश्लेषित किए जा सकते हैं। 'अन्धा युग' में महाभारत-युग की वह कथा समाहित है जिसमें नैतिक मूल्य निरन्तर पतन के गहन गर्त्त की ओर ह्रासोन्मुख थे। युद्ध के सूर्य के अस्त होते-होते अनैतिकता ने अपनी चरम सीमा का अतिक्रमण कर लिया था। उपरोक्त गीति-नाट्य में इसी अनैतिक काल की घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा, रक्तपात, अविवेक, टूटन-विघटन, छन्द-त्रास आदि की अन्धी और कुण्ठित भावनाओं की मर्म को छलनी करने वाली अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः 'अन्धा युग' की कथा महाभारतकालीन तथ्य को उद्घाटित नहीं करती बल्कि ऐसे युग की कथा को भी उद्भाषित करती है जिसके पथरीले वृक्ष पर कुत्सित भावनाएं व्यापक जनमानस में प्रसार पाकर बैठ जाती हैं। इस गीति-नाट्य में पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात के कुशल संयोजन के साथ प्रतीकात्मकता को लेकर लेखक ने नाटकीय सुसम्बद्धता को पुष्ट करते हुए मुक्त छन्द और अपनी भावाभिव्यंजना को सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया, जिससे इनकी सबल अभिव्यक्ति में भाषा प्रवाहपूर्ण बन कर 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर अंकित हुई।

1954 में ही भारती ने 'अन्धा युग' के अतिरिक्त 'सृष्टि का आखिरी आदमी' नामक एक अन्य संक्षिप्त गीति-नाट्य प्रस्तुत किया। उसमें भारती ने सृष्टि के अन्तिम दिनों की काल्पनिक झाँकी का चित्रण किया तथा उसी में नूतन सृष्टि निर्माण के संकेत-सूत्र पिरोए। अतः ये दोनों गीति-नाट्य युद्ध और सामाजिक संघर्ष प्रधान गीति-

नाट्यधारा की परम्परा को पुष्ट कर अपनी सफलता की नई कड़ियाँ जोड़ते हैं।

इस कथा के माध्यम से नाटककार ने युद्धजन्य अर्द्धसत्यों, कुण्ठाओं और अन्ध-स्वार्थपरता, विवेकहीनता आदि को उद्घाटित करते हुए इनके मध्य उदित होती हुई शुभ, मंगलमयी कुंकुमी ज्योति के प्रकाश में मर्यादा, आस्था, कर्मपरता को विवेचित किया। यह मंगलमयी शुभ ज्योति अन्ध गह्वर की भंवर में गोते खाते हुए मानव के लिए निरन्तर प्रेरणा बनकर उसके लिए प्रकाश देने का कार्य करेगी। शिव से अनुस्यूत इस ज्योति का मूल स्रोत गीता का अनासक्त कर्मयोग है, लेकिन भारती ने इसको नए सन्दर्भ में इस्तेमाल किया है। भारती ने कृष्ण को माध्यम बनाकर व्याध को कहा—

"लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा।
हर मानव मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेंगे पिछले ध्वंसों पर
× × ×
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।"[1]

'अन्धा युग' की सम्पूर्ण कथा के मोतियों को कुछ इस तरह पिरोया गया है कि वह एक सीमा तक एकतान और अटूट बन गई। इसलिए श्रीकृष्ण सिहल ने लिखा—"सम्पूर्ण कथानक की बनावट कुछ इस प्रकार की गई है कि वह बराबर एकतान और गतिशील रहता है।"[2] डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी कहा है—"सारा कथानक सुनियोजित, गतिशील, प्रभावपूर्ण, कल्पना की सक्षमता से गूँथा हुआ है।"[3] कथावस्तु को तीव्रता और गतिशीलता प्रदान करने के अतिरिक्त अन्विति में डालने के लिए भारती ने प्रमुखतः दो उपादनों को माध्यम बनाया—कथागायन या कोरस और प्रसंगानुकूल परिवर्तित होते हुए टोन और लय का प्रयोग।

कथा-गायन का प्रयोग अंग्रेजी नाटकों में टी० एस० इलियट, आडेन आदि के नाटकों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यूनानी नाटकों में भी प्रायः यह कोरस अथवा कथा-गायन अनिवार्य अंग के रूप में देखा जा सकता है। भारती के शब्दों में—"यह पद्धति लोकनाट्य परम्परा से ली गई है।"[4] सभी अंकों में प्रारम्भ, मध्य

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 127, 128
2. हिन्दी गीति-नाट्य : कृष्ण सिहल : पृष्ठ 117
3. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन : डा० गिरीश रस्तोगी : पृष्ठ 194
4. अन्धा युग : भारती : निर्देश : पृष्ठ 4

और अन्त में कोरस अथवा कथागायन है, जिसके माध्यम से कई कार्यों की सिद्धि की गई है। इसलिए कथागायन 'अन्धा युग' में वस्तुसंघटन का एक परमावश्यक उपकरण बना कर प्रस्तुत किया गया। दृश्य अथवा अंकपरिवर्तन की सूचना देने के साथ मंच पर अभिनीत घटनाओं की सूचना देना, वातावरण की उपयुक्तता, धार्मिकता, गहनता को स्थिर रखना, कथासूत्रों में तारतम्य बनाकर सम्बद्ध रखना, संगीत माधुरी से पाठक और दर्शक को बाँध कर नाटकीय औत्सुक्य की वृद्धि करना और कहीं-कहीं कथानक के प्रतीकात्मक अर्थों को स्पष्ट कर खोलना तथा दो युगों को एक साथ सम्बद्ध करना, अतः स्वतः ही कथागायन या कोरस 'अन्धा युग' का अनिवार्य अंग सिद्ध हो जाता हैं। दृश्य परिवर्तन की ओर इंगित करते हुए प्रथम अंक के कथागायन को उदाहरण के के लिए लीजिए—

> "अन्तःपुर में मरघट की-सी खामोशी
> कृश गान्धारी बैठी है शीश झुकाए
> सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
> संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए।"[1]

गीति नाट्य में टोन (स्वर) अथवा लय (संगीतात्मकता) का भी विशेष महत्व है।[2]

इसी टोन अथवा लय पर नाटक की अभिनयात्मक सफलता-असफलता निर्भर करती है। 'अन्धा युग' में भारती ने उसका सर्वत्र ध्यान रखा। ग्रन्थ के निर्देश में वे जागरूक होकर लिखते हैं—"जैसे एक बार बोलने के लिए मुँह खोले किन्तु उसी बात को कहने में मन में कई बार करवटें बदल लें तो उसे सम्प्रेषित करने के लिए लय भी अपने को बदल लेती है। कहीं-कहीं लय का यह परिवर्तन मैंने जल्दी-जल्दी ही किया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ 79, 80 पर संजय के समस्त संवाद एक विशिष्ट लय में हैं। पृ० 81 पर संजय के संवाद की यह लय अकस्मात बदल जाती है।"[3] प्रथम अंक में विदुर के पैरों की आहट सुनकर धृतराष्ट्र का 'संजय' उच्चारण करना बहुत ही स्वाभाविक लगने के साथ ऐसा स्वर-कंपन ध्वनित करता है कि उसके वाल्यूम से पाठक अथवा दर्शक के मन में कहीं एक संचार हो जाता है। इससे धृतराष्ट्र की संशयाकुल मनःस्थिति और व्याकुलता का बोध होता है। एक ही व्यक्ति की मनःस्थिति को उद्घाटित करने के लिए संवादों की लय भी परिस्थितियों के अनुरूप कई स्तरों पर

1. अन्धा युग : पृष्ठ 16
2. "Opera : A dramatic performance in which music forms an essential part, consisting of recitatives, arias and chorores with orchestral accompaniment and scenery."—Shorter Oxford Dictionary : Vol. II : p. 1374
3. अन्धा युग : भारती : निर्देश : पृष्ठ 5

लय-परिवर्तन को लेकर प्रतिफलित हुई। संवेदों के प्रादुर्भाव से संवादों की लय-परिवर्तन प्रक्रिया द्रष्टव्य है। अश्वत्थामा के शब्द—

"कितना सुनसान हो गया है वन
जाग रहा हूँ केवल मैं ही यहाँ
इमली के, बरगद के, पीपल के
पेड़ों की छायाएं सोई हैं...।"[1]

और पृष्ठ के समाप्त होते ही वह पुकार उठता है—

"तुमने कहा था नरो न कुंजरो वा।
कुंजर की भाँति
मैं केवल पदाघातों से
चूर करूँगा धृष्टद्युम्न को।"[2]

स्वच्छन्द आकाश में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र छोड़ते ही ज्वालामुखियों की-सी भयानक गड़गड़ाहट की ध्वनि मध्य व्यास की तीखी आवाज भयग्रस्त मौन वातावरण के वक्ष को भेदती हुई ध्वनित होती है—"यह क्या किया अश्वत्थामा! नराधम। यह क्या किया ?"[3]

कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् टोनों के माध्यम से नाटकीय क्रिया-व्यापार का शब्द-चित्र समक्ष आकर उपस्थित हो जाता है। उद्धारण के लिए प्रथम अंक में प्रहरी के मन के भय को अंकित कर सकते हैं—"सुनते हो, कैसी है ध्वनि यह भयावह"[4] और फिर दूसरे प्रहरी का कथन भी—

"बादल नहीं है, ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों
पाँखें खोले।"[5]

गिद्धों की पंख-ध्वनि सुनते ही पुनः स्थिति की गम्भीरता को विश्लेषित करना—

"लो, सारी कौरव नगरी
का आसमान गिद्धों ने घेर लिया।"[6]

दृश्य का शब्द-चित्र प्रत्यक्षतः चक्षु-पटल पर उपस्थित हो जाता है और फिर तुरन्त ही दूसरे प्रहरी का कहना—

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 68
2. वही : पृष्ठ 70
3. वही : पृष्ठ 92
4. वही : पृष्ठ 14
5. वही : पृष्ठ 14
6. वही : पृष्ठ 14

"झुक जाओ, झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिद्ध भूखे हैं ।"[1]

उस मर्यावह वातावरण का चित्र अंकित कर देता है । आँधी की ध्वनि के क्षीण हो जाने पर प्रहरी का एक ही वाक्य—"मौत जैसे ऊपर से निकल गयी"[2] प्रहरी की ठण्डी सांस के साथ उसके मुख की चिन्ता के कणों को सुखा कर किंचित निश्चिन्तता को मूर्तित कर देता है । यह ध्वनि-सौन्दर्य 'अन्धा युग' के पट-परिवेश में सर्वत्र व्याप्त है जिसे संजय, धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा, प्रहरी आदि सभी के संवादों में परिलक्षित किया जा सकता है । स्वरों का यही परिस्थिति और समय-सापेक्ष आरोह-अवरोह से युक्त कंपन सम्पूर्ण गीति-नाट्य में प्राण-शक्ति का संचार कर देता है । स्वाभाविकता और सहजता के लिए कहीं-कहीं भारती ने शब्दों और अर्द्धवाक्यों की पुनरावृत्ति का भी प्रयोग किया । उदाहरण के लिए अश्वत्थामा—

"वध, केवल वध, केवल वध
मेरा धर्म है···
मैं क्या करूँ
मातुल । मैं क्या करूँ···।"[3]

इस प्रकार 'अन्धा युग' में नाटकीय परिस्थितियों के अनुसार टोन अपनी परिवर्तन-प्रक्रिया को साधे रखती है, जो नाटकीय स्थिति और परिस्थितियों की सापेक्षता के अनुकूल और आवश्यक है ।

गीति-नाट्य में भाषा निर्विवाद महत्व रखती है क्योंकि भाव-प्रेषणीयता के केन्द्रीय सूत्र की वही संचालिका है । टी० एस० इलियट ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं । उनके अनुसार भाषा न तो इतनी प्राचीन होनी चाहिए कि उसकी बोधगम्यता ही संदिग्ध हो जाए और न कुछ आधुनिक फ्रांसीसी नाटककारों की तरह आजकल के वार्तालाप से मिलती-जुलती होनी चाहिए । इसलिए अपना शैली को उसने तटस्थ (Neutral) कहा है ।[4] इस तटस्थता को निर्वाह का परिवेश पहनाने के लिए इलियट ने गीति-नाट्यों में अतुकान्त छन्दों के प्रयोग का आश्रय नहीं लिया, किन्तु आधुनिक सम्वेदनाओं और समस्याओं के साथ अतीत की कथावस्तु के तारों को समंजित करने के लिए भाषा को कुछ इस प्रकार सतर्कता से ढालना पड़ेगा कि जो दोनों युगों-अतीत और वर्तमान, को एक बिन्दु पर लाकर सशक्त रूप से व्यक्त करने

1. वही : पृष्ठ 14
2. वही : पृष्ठ 15
3. वही : पृष्ठ 43, 44
4. Essay of Eliot. T.S. Eliot : p. 39

में समान रूप से समर्थता प्राप्त कर सके। आज के पारिभाषिक शब्दों की सतर्कता और बौद्धिक कुशलता के साथ रक्षा करनी चाहिए। प्रतीकात्मक अर्थ की स्पष्टता व्यंजित करने के लिए 'वैयक्तिक मूल्य', 'अर्द्धसत्य' आदि शब्दों के उन्मुक्त प्रयोग और व्यवहार में किसी की आपत्ति का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु जब अश्वत्थामा—

"वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है जब मेरे लिए मनोग्रन्थि।"[1]

कहता है तब उसकी महाभारतकालीन पात्रता का परिवेश उतर जाता है, किन्तु इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग 'अन्धा युग' में नगण्य ही है। भाषा-सौन्दर्य और अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से 'अन्धा युग' में बड़ी सशक्त और सांकेतिक पंक्तियाँ यत्र-तत्र परिलक्षित होती हैं। द्वितीय अंक के अन्त में—

"यह रात गर्व में
तने हुए माथों की
यह रात हाथ पर
धरे हुए हाथों की।"[2]

इसके अतिरिक्त प्रतीकों और सशक्त बिम्बों के निर्माण ने इस कृति को अत्यन्त समृद्ध और सशक्तता का अद्भुत गौरव प्रदान किया। युयुत्सु के सम्पूर्ण जीवन की मार्मिक व्याख्या भारती ने एक ही प्रतीकात्मक चित्र से अंकित कर दी—

'मैं हूँ युयुत्सु
मैं उस पहिये की तरह हूँ
जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा
पर जिसे जब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था
और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ।"[3]

इसी प्रकार अर्थपूर्ण बिम्ब द्वारा युद्ध में शेष बचे अश्वत्थामा का अर्थपूर्ण विकृत रूप चित्रित किया—

"जिस तरह बाढ़ के बाद उतर रही गंगा-
तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया
वैसे ही तट पर आज अश्वत्थामा को
इतिहासों ने खुद नया मोड़ अपनाया।"[4]

गीति-नाट्य में चरित्र-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक कौशल और जागरूकता की आवश्यकता अनुभव करता है। अभी तक 'अन्धा युग' के रूप-विन्यास के विषय में ही

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 44
2. वही : 46
3. वही : पृष्ठ 74
4. वही : पृष्ठ 46

चर्चा होती रही। गद्य-नाटकों और गीति-नाट्यों के मध्य एक विभाजक रेखा बड़ी स्पष्ट है। गद्य-नाटकों में नाटकीय स्थितियों और परिस्थितियों की नियोजना करने में जितना अवकाश मिल जाता है उतना अवकाश गीति-नाट्यों में प्राप्त नहीं होता। किसी विशेष स्थिति अथवा परिस्थिति को चित्रित करने के लिए अनुकूल घटनाओं परिवेशों को संघटित करना गीति-नाट्यकार के लिए प्राय: बहुत ही कठिन होता है या यूं कहना चाहिए कि संभव नहीं है। नाटक की आत्मा का केन्द्रीय सूत्र संघर्ष है और काव्य-रूपक में चूंकि मानव के अन्तर्जीवन का चित्रण प्रमुखता प्राप्त करता है, अत: स्वतः ही उसमें बाह्य संघर्ष के स्थान पर अन्तःसंघर्ष की प्रधानता हो जाती है। जो घटनायें और स्थितियां विविध विरोधी भावों के परस्पर संघर्ष का अवकाश उत्पन्न करती हैं, वे ही काव्य-रूपक में समाहिति के लिए उपयुक्त समझी जाती हैं। गीति-नाट्य में नाटककार का बाह्य-दृश्य विधान की अपेक्षा मानसिक संघर्ष, द्वन्द्व, घात-प्रतिघातों को विचित्र करना ही मुख्यत: लक्ष्य होता है। इन मानसिक द्वन्द्वों, आलोड़न-विलोड़न से उत्पन्न मन:स्थितियों से ही पात्रों के चरित्र की महत्ता का उद्घाटन होता है, जिससे पात्रों में नवीन उत्कर्ष के साथ निखार आता जाता है। क्योंकि यही संघर्ष क्रिया-व्यापार की गतिशीलता, कथा के विकास की प्रक्रिया और चरित्र-चित्रण-शैली में प्रयुक्त होकर गीति-नाट्य में सर्वत्र अनुस्यूत हो जाता है। डॉ० श्याम नन्दन किशोर का इस विषय में मन्तव्य सार्थक प्रतीत होता है कि—'अन्तर्द्वन्द्वों के कुशल चित्रण से चरित्र-चित्रण का शिल्प निखर उठता है। यह द्वन्द्व-चित्रण प्रत्यक्ष भी होता है, अप्रत्यक्ष भी। अप्रत्यक्ष चित्रण परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को प्रकट करता है।"[1] इसलिए यह आवश्यक है कि चरित्रों के मानसिक संघर्ष के साथ नाटक की कविता और क्रिया-व्यापार के साथ समंजन को परखने के लिए इसी कसौटी से सम्बद्ध कर दिया जाए।

भारती के गीति-नाट्य 'अन्धा युग' में युद्ध की भयानक विभीषिका का विनाशक त्रास अधिक है तो अन्तर्मंथन की रेखायें भी कम तीखी नहीं। इस गीति-नाट्य के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा के तीव्र उद्वेलन, कृष्ण के गम्भीर चिन्तन, प्रहरियों के पीड़ामय मौन और गांधारी के वेदना से आक्रान्त पश्चाताप में यह संघर्ष सशक्तता से चित्रित है। इसके अतिरिक्त युयुत्सु का आत्मघाती संघर्ष, संजय की तटस्थता का पीड़ामय संघर्ष, धृतराष्ट्र का अन्धसंघर्ष भी अत्यन्त मुखरता के साथ उभरा है। इनके मानसिक संघर्षों के घात-प्रतिघातों के विभिन्न स्तरों को उद्घाटित करते हुए भारती ने सर्वत्र यह ध्यान रखा है कि कहीं भी काव्य-तत्व और क्रिया-व्यापार से मानसिक संघर्ष का सम्बन्ध विघटित न होने पाये। नाटकीय सुसम्बद्धता रहित होने पर काव्यत्व नाटक का अंग नहीं बन पाता। इसलिए काव्यतत्व की सार्थकता नाटकीय सुसम्बद्धता में ही अन्तर्भूत है। युधिष्ठिर के एक अर्द्धसत्य ने अश्वत्थामा के अन्दर जो भी कुछ

1. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान : डा० श्यामनन्दन किशोर : 138

शुभ था, कोमल था, उसे विनष्ट कर डाला और उसे मानव से बर्बर पशु में परिवर्तित कर दिया। अश्वत्थामा की आस्था कुण्ठित होकर मन की विचित्र मनोग्रन्थि बन कर उभर आई, जिसे वह जितना ही सुलझाव की रेखाओं में ढालता, वह उतनी ही उलझनों के चक्रव्यूह में फंसता जाता। अश्वत्थामा कुण्ठा और बर्बरता का वात्याचक्र बना बार-बार पीड़ित होकर वेदना से कराह उठता है—

> "एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
> मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।"[1]

केवल वध उसका धर्म बन जाता है, प्रतिहिंसा का ताजा रक्त उसकी नस-नाड़ियों में प्रवाहित होता है। मानसिक ग्रन्थियों ने उसे विक्षिप्त कर जर्जर कर डाला है। अश्वत्थामा की इन उलझनों में, उसके वक्तव्यों में नाटकीय सुसम्बद्धता को देखा जा सकता है। ऐसा लगता है कि उसकी विभिन्न मनःस्थितियों में विभिन्न प्रकार के क्रिया-व्यापारों को मनोग्रन्थि से पीड़ित तार में पिरोया गया है। उसके मन में ग्लानि क्षोभ, पीड़ा, आशा-निराशा कुण्ठा आदि मनोग्रंथियों की सुरंग बिछी हुई है। वह विमंथित अन्तर्मन की विक्षोभ से जड़ित प्रतिमूर्ति है। उसके अन्तर्मन का यही अन्तर्द्वन्द्व अन्तःसंघर्ष सम्पूर्ण गीति-नाट्य में तारतम्य की भाँति गुँथा हुआ है। महाभारत-काल की सम्पूर्ण अनीति, अमर्यादा, पशुता, बर्बरता का प्रतीक रूप बनकर वह हमारे समक्ष उपस्थित होता है। इसलिए वह सामान्य मानसिक स्थिति से ऊपर उठकर बहुत कुछ असामान्य पात्र (Abnormal character) की रेखाओं से बंध गया है। भारती ने बड़े मनोयोग से अश्वत्थामा के घनीभूत क्षणों को काव्य-तत्वों से सन्निविष्ट कर मुखर अभिव्यक्ति दी। गांधारी की मानसिक स्थिति भी बहुत कुछ अश्वत्थामा की मनःस्थिति की प्रक्रिया से मेल खाती है। उसकी व्यथा और घोर निराशा इन पंक्तियों से ध्वनित होती है—

> "माता मत कहो मुझे
> तुम जिसको कहते हो प्रभु
> वह भी मुझको माता ही कहता है
> शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों सा
> मेरी पसलियों में धँसता है।"[2]

संजय से अश्वत्थामा द्वारा किए गए घृणित और वीभत्स कार्यों को सुनकर वह एक प्रकार की आत्मिक सन्तुष्टि का अनुभव करती है। इससे कथानक को गति मिलती है। विषम परिस्थितियों के भंवर में उलझा युयुत्सु हृदय की अथाह ग्लानि और क्षोभ से करुणा का वक्ष फाड़ देता है और आत्मघात की क्रूर छाया में विश्राम पाता है। गांधारी, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि भी आत्महत्या में ही विश्राम पाते हैं।

1. अन्धायुग : भारती : पृष्ठ 42
2. वही : पृष्ठ 22

उनकी आत्महत्या जैसा कि गीति-नाट्यकार ने इंगित किया, तत्कालीन युग की समस्त संस्कृति में व्यापक रूप से व्याप्त हो उठी थी।

सुदूर अतीत का प्रतिपाद्य होने पर भी 'अन्धा युग' में आधुनिकीकरण का तीव्र स्वर है। आत्महत्या, संशय, विक्षेप और शाप से ग्रसित तत्कालीन कथावस्तु का आधुनिक स्थितियों से समंजन कर नाटककार ने अपने गंभीर चिन्तन-मनन का परिचय देकर एक अन्यतम सिद्धि प्राप्त की है। द्वितीय विश्व-युद्ध के विनाशक युद्ध के पश्चात जो अन्धा युग अवतरित हुआ क्या वह महाभारत युगीन अमर्यादा और अनैतिकता से किसी भी स्तर पर कम कहा जा सकता है? आज दुनिया रक्तपात, कुंठा, बर्बरता कुरूपता, भयंकरता, अन्धापन, निराशा आदि से बुरी तरह आक्रान्त है। गूंगे सैनिक की मर्म को छलनी करने वाली व्यथा आज के परमाणु-युग पर निर्दोष मार्मिक खून के छींटे देकर कटु व्यंग्य करती है। तत्कालीन कथावस्तु का आज की ज्वलन्त समस्याओं से सामंजस्य करने का कार्य प्रहरी युग्म करता है। कहीं पर वे हमारे समक्ष आज के शस्त्रास्त्रों की स्पर्धा करने का व्यंग्यमय संकेत देते हैं तो कहीं निम्न-वर्ग की दारुण अपरिवर्तनीय स्थिति की ओर इंगित करते हैं। युधिष्ठिर की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित वार्तालाप आज की शासन-व्यवस्था के खोखलेपन की व्यंजना करता है—

"शासक बदले
स्थितियाँ बिलकुल वैसी हैं
इससे पहले ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे······।"[1]

विस्तृत विवेचन के उपरान्त स्वतः ही आवश्यक सा हो जाता है कि 'अन्धा युग' के दोषों को भी परिलक्षित कर लिया जाए जो 'अन्धा युग' की महत्ता पर चोट करते हैं। गीति-नाट्यकार ने 'स्थापना' के अन्तर्गत इस बात का दावा किया है कि 'अन्धा युग' में 'यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।'[2] किन्तु कृतिकार का यह दावा सारपूर्ण दृष्टिगत नहीं होता। इसीलिए श्री नेमिचन्द्र जैन ने कहा है कि 'निस्सन्देह 'अन्धा युग' की भाववस्तु के अपने अन्तर्विरोध हैं। पूरा नाटक पढ़ चुकने पर ऐसा लगता है कि भारती अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने के प्रयास में अन्धकार में ही उलझे रह गए हैं। पूरे नाटक में ऐसा गहरा निराशा और विवशता का चतुर्दिक लगभग समान मर्यादाहीनता और अनैतिकता का दम घोंटने वाला वातावरण है कि अन्त में वृद्ध याचक और कथागायक का आशावाद आरोपित लगने लगाता है। अश्वत्थामा और कृष्ण या प्रभु को लेखक ने कुछ इस प्रकार से आमने-सामने और बराबरी के साथ रखा है कि यदि गांधारी के शाप के बाद कृष्ण की स्वीकृति

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 107
2. वही : पृष्ठ 10

की प्रतिक्रिया न होती तो ज्योति का शायद एक कण भी नाटक में न रह जाता।"[1] यदि गम्भीरता से अध्ययन मनन करने के उपरान्त विचार किया जाए तो इससे ध्वनित होता है कि 'अन्धा युग' की विषयवस्तु उनके नाम को ही सार्थकता प्रदान करती है। नाटक के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा और गांधारी विघटन से त्रसित, निराशा से कुंठित, अन्तर्संघर्षों की दावाग्नि से ग्रसित एवं मर्यादाहीन जीवनधाराओं के प्रतिरूप बनकर 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर अंकित हुए हैं। इस गीति-नाट्य में एक भी सशक्त पात्र ऐसा नहीं है कि जो भावात्मक जीवन-दृष्टि को उन्मुक्त सशक्तता प्रदान कर ज्योति का आलोक-स्तम्भ खड़ा कर सके। विदुर और संजय को दर्शकमात्र की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। युयुत्सु न्याय का पक्ष लेकर भी पश्चाताप की अग्नि में झुलसता है और अथाह ग्लानि और क्षोभ से पीड़ित उपेक्षा से आत्मघात कर लेता है। धर्मराज युधिष्ठिर असत्य से समझौता कर लेते हैं। यहाँ तक कि महाप्रभु कहे जाने वाले कृष्ण भी मर्यादा-अमर्यादा के झूले में घड़ी के पेंडुलम की भाँति झूलते हुए अपनी प्रभुता का दुरुपयोग करते हैं। महाप्रभु कृष्ण के माध्यम से कृतिकार जिस ज्योति की कथा को प्रकाशित करना चाहता है, वह सम्पूर्ण गीति-नाट्य का अनिवार्य अंग नहीं बन पायी, इसलिए ज्योति की कथा कुंठित होकर बहुत कुछ दब जाती है। समस्त कृति में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्टतः व्यंजित नहीं हो पाता कि इन व्यक्तियों में कौन से मूल्यों का तिरोभाव हुआ, जिससे वे अवरुद्ध हो गए एवं वह कौन सी 'मर्यादा' है जिसके उल्लंघन के परिणामस्वरूप महाभारत की विनाशक ताण्डव लीला ने इतिहास के पृष्ठों को अपने रक्त से लाल बनाया। कृति के प्रारंभ से अन्त तक गीति-नाट्यकार ने 'मर्यादा' शब्द को उल्लेखित किया किन्तु कहीं भी इसके रूप की विवेचना और इसमें समाहित जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं समझी।

'अन्धा युग' प्रतीकात्मक दृश्य-काव्य है। यह पहले कहा जा चुका है, पात्र-मनःस्थितियाँ, स्थितियाँ, वस्तुएँ वातावरण, उद्देश्य, नामकरण, शीर्षक सभी कुछ प्रतीकात्मकता की सशक्त अभिव्यंजना करते हैं। इसलिए स्वतः ही प्रतीकों की बहुलता है। विविध प्रतीकों के मध्य केन्द्रीय प्रतीक 'अन्धा युग' या 'अन्धी युग-दृष्टि' प्रतीकों की शृंखला को एक क्रम में पिरोकर एक सूत्र में नहीं गूँथ पाता। केन्द्रीय प्रतीक अन्य प्रतीकों की समष्टि को अभिव्यक्ति न देकर उन्हीं के समान बन कर रह गया है, जबकि उसे अपने महत्व की विशिष्टता को तीव्रता से व्यंजित करना चाहिए। वह बार-बार आवृत्ति से अलंकृत करने पर ही व्यंजित होता है।

समासतः परिशीलन कर हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण रूप में 'अन्धा युग' प्रथम सफल गीति-नाट्य है जो नवीन दिशा का सूचक बन कर हिन्दी गीति-नाट्य-परम्परा

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्यिक ; सम्पादक डा० महेन्द्र ; पृष्ठ 76

के विकास में अद्यतन चरण रखते हुए अपने उज्ज्वल और महत्वपूर्ण योगदान से एक नवीन और स्वस्थ मोड़ देता है। बिम्बों और प्रतीकों की सजीव योजना, नाटकीय निर्वाह की प्रभान्वित, कथानक की उत्कृष्टता, अभिनयात्मकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और गहन भावाभिव्यक्ति, संवादों की गीतिमयता, कार्य व्यापार की तीव्रता, कल्पना-समृद्धि, अनुकूल कथा-गायन की योजना, प्रहरियों की नवीन प्रभावपूर्ण योजना, अभिव्यंजना-शैली एवं काव्य-तत्व की दृष्टि से भारती की यह कृति अद्यतन है जो हिन्दी गीति-नाट्य साहित्य की एक विशिष्ट, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है। निसन्देह यह एक श्रेष्ठ गीति-नाट्य है जो हिन्दी-साहित्य में भारती के महत्व को गौरव प्रदान कर अपना महत्व अक्षुण्ण रखेगा।

चतुर्थ अध्याय

'अन्धा युग' में प्रतीक-विधान

नयी कविता की प्रतीक-चेतना

नयी कविता की मूल चेतना उस स्थिति विशेष से सम्बद्ध है जब काव्य की भाषा निरंतर संकुचित होती हुई सीमा को विच्छिन्न कर युगीन-परिवेश से उत्पन्न नूतन सौन्दर्य-बोध तथा सम्वेदना की निस्संग और अप्रत्याशित अभिव्यंजना चाहती है। शब्दों की प्रचलित सामान्य अर्थवत्ता जब कवि को युग-बोध से दूर ले जाकर उसकी अनुमति में बाधा उपस्थित करती है तब वह अपने सार्थक अनुभव-क्षणों की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए पुरानी भाषा की केंचुली को उतार कर नवीन कणों से नयी भाषा का निर्माण करता है। भाषा की इस निर्माण-प्रक्रिया में भाषा-विशिष्ट प्रतीक धर्मा होकर कवि की अनुभूति को सघनता और तीव्रता से अभिव्यक्त करती है।

प्रतीक अमूर्त अनुभूतियों के समक्ष दर्पण बन कर उन अमूर्त अनुभूतियों को चेतना में मूर्तित कर देता है। वस्तुतः कल्पना या मन की अनुभूति को चित्रित करने का प्रतीक एक गोचर माध्यम है। अपने निहित कथ्य से अधिक अभिव्यंजित करते हुए भी बहुत कुछ संगोपित भी रहने देता है। काव्य का सूक्ष्म और मूल सौन्दर्य प्रतीकों का यही धूप-छाँही सम्बन्ध है। जीवन-जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव की अभिव्यक्ति से प्रतीकों का स्वाभाविक और गहन सम्बन्ध है। इसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होने के कारण संस्कृति, विज्ञान और कला की सम्पूर्ण साधना प्रतीकों के लिए अन्वेषण सिद्ध होती है।

प्रतीक : नये अर्थ की संभावना का कलात्मक उपकरण

जब भाव और विचार कभी-कभी अपने शब्दों में समाहित नहीं कर पाते तो सर्जक कलाकार अपनी मनःस्थिति को वाणी देने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी भावधारा और विचारखण्डों को संवेद्य बनाने का कलात्मक प्रयास करता है। प्रतीक की मोड़ में विभिन्न अर्थों की अमित सम्भावनाएँ क्रीड़ा करती हैं, उसको हम किसी निश्चित अर्थ में नहीं बाँध सकते, वह अपने आप में ही एक जिज्ञासा और कौतूहल का विषय है। प्रतीक की शक्ति और सीमा पर विचार किया जाए तो निष्कर्षतः उसकी स्थिति और सीमा मूर्तरूप में अमूर्त व्यंजनाएँ ही होती हैं, इसलिए

प्रतीकात्मकता काव्य का वह सौन्दर्य-मिश्रित गुण है जो उसे अधिक चिरन्तन और हृदयग्राही बना देता है। अर्थ की अनिश्चित स्थिति में उसमें नवीन अर्थ-चमत्कार की सम्भावना को खुला रखती है जिससे उसमें नवीन अर्थ की सृष्टि होती रहती है।

'काव्य में विस्तार तथा स्पष्टता कभी कभी सौन्दर्य को हल्का तथा अस्थाई बना देते हैं। काव्य की सपाट बयानी पाठक के कुतूहल तथा जिज्ञासा को नष्ट कर देती है और उसका विस्तृत आयाम पाठक के लिए धैर्य को समाप्त कर देता है, जो अन्ततः काव्य के सौन्दर्य को आघात पहुँचाने वाला होता है। इसके विपरीत प्रतीक अपनी अस्पष्टता, संक्षिप्तता व रहस्यात्मक गुह्यता के कारण अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। शब्दों के आश्यात्मक तथा संवेद्य दोनों अर्थों के अन्तराल में बैठने की अद्भुत क्षमता के कारण प्रतीक गम्भीर से गम्भीर अर्थ प्रतिपादित करने में समर्थ होता है।"[1]

काव्य में प्रतीक-निर्माण की अनिवार्यता तथा महत्व की ओर संकेत करते हुए अज्ञेय ने 'आत्मनेपद' में लिखा है कि कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की, सृष्टि करता है और जब ऐसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है।"[2]

अज्ञेय का यह विचार है कि काव्य-साहित्य में 'कम से कम शब्दों द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियों का उद्भावन'[3] अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा महत्वपूर्ण हो सकता है। वस्तुतः यह कथन सत्य प्रतीत होता है। जिस कविता में अभिध्येय अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापक अर्थ की संभावना निहित रहती है वह प्रतीकात्मक होती है।

डॉ० भारती ने अपनी विचारधारा को 'मानव मूल्य और साहित्य में अभि-व्यक्त करते हुए लिखा—'साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतर कर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी तात्कालिक समस्या का स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को सुसंस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टालस्टाय की राजनीति क्या थी, शेक्सपीयर ने अपने समय के किसी दंगे में किसका पक्ष लिया था और टी० एस० इलियट किस ईसाई सम्प्र-दाय का अनुयायी है—यदि पाठक यह नहीं जानता, फिर भी इनका साहित्य उनके व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है, उसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व भावना को सचेत करता है, संक्षेप में यदि वह उसे जीवन-प्रक्रिया के प्रति

1. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : डा० कैलाश वाजपेयी : पृष्ठ 54
2. आत्मनेपद : अज्ञेय : पृष्ठ 41
3. वही : पृष्ठ 42

उद्बुद्ध करती है और समाज को अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता है, तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालित नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसी को पौराणिक और काल्पनिक देशकाल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, और कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट-प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्यबोध उसके माध्यम हैं और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है।"[1]

'अन्धा युग' की रचना कर डॉ० भारती ने साहित्यकार के दायित्व की कसौटी को अक्षुण्ण रखा। उन्होंने पौराणिक कथा-प्रतीकों को माध्यम बनाकर आज के समाज में व्याप्त कुण्ठा, निराशा, विकृतियों की ऐंठन और टूटन, विषमताओं से उत्पन्न व्यक्तित्व को विघटित करती मनोवृत्तियाँ, असामाजिक स्थितियों के चरम-त्रास-द्वन्द्व और असन्तुलन आदि को चित्रित कर उसके परिहार-परिष्कार को रूपायित करने की चेष्टा की जिसमें प्रतीकों के माध्यम से युग-सत्य को प्रस्तुत किया गया है।

'अन्धा युग' नाटक की प्रतीकात्मकता को व्यंजित करने के लिए भारती ने कथा-गायन को माध्यम बनाया। उन्होंने नाटक के अन्त में लिखा—

"उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है
हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।
× ×
मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता
अन्धे संशय, दासता, पराजय से।"[2]

प्रतीकात्मक नामकरण की सार्थकता

नाटक का नाम 'अन्धा युग' प्रतीकात्मक है। द्वितीय विश्व-युद्ध के लोमहर्षक

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृष्ठ 152, 153.
2. अन्धा युग : भारती ; पृष्ठ 130

परिणामों ने राजनीति और साहित्य के अवकाश को अन्धकार से आच्छादित कर दिया, विशेषतः पश्चिम के साहित्याकार को द्वितीय महायुद्ध ने ग्रस लिया, जिसका प्रतीक वह 'अन्धा युग' बना। 'अणु बम पर तीन कविताएँ' लिखकर एडिथ सिटवेल ने इसी अन्धे युग की ओर निर्देश किया है। उन्होंने द्वितीय विश्व-युद्ध की मर्मान्तक वेदना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया—

"अपने हृदय पर कीलों की ठुकी हुई जैसे सलीब पर चोर—
मैं लटक रही हूं बीचोंबीच—जीसस के और खाई के
जहाँ इस संसार का अन्त हो गया है।···
···जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ जुड़े पड़े हुए हैं
जैसे प्रेमी······और न अब नफरत रही है
और न प्रेम है। लुप्त हो गया है मनुष्य का हृदय।"[1]

'लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्य में, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद जो साहित्य आया उसमें उसी विषाद, निराशा, दुश्चिन्ता, बेचैनी की प्रतिध्वनि मिलती है जो इन पंक्तियों में है। पश्चिम ने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जिसके आगे अंधेरा है, अनिश्चिय है, दिग्भ्रम है।"[2] पश्चिम में पूर्ण व्यवस्था उत्ताल लहरों के वृक्ष पर उद्देश्यहीन डोलते हुए खण्डित पोत की सी हो गई। उसके गर्भ से जो दर्शन प्रकाश में आया और जो साहित्य के अंकुर पनपे उनमें ध्वस्त होती हुई अन्तरात्मा के स्पष्ट संकेत दीखने लगे। किपलिंग, नीत्शे जैसे लेखक असत्य को स्थापित करने में प्रयत्नशील थे और उधर साहित्य में मानव की अन्तरात्मा विकृत और जर्जर रूप धारण कर कोढ़ी बनती जा रही थी। साहित्य के अतिरिक्त घोर अन्धेपन ने राजनीति के क्षेत्र को भी अपनी गुंजलिका में जकड़ लिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के ताण्डव नृत्य ने पश्चिम में ही नहीं भारत में भी संकट की स्थिति को उत्पन्न कर दिया। डॉ० भारती ने अंकित किया—"ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ सौर सत्ता का युग आया, त्यों ही यह ऊपरी भव्यता और प्रभामण्डल अकस्मात निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थिति के अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट ही दीखने लगा। इस प्रभामण्डल (नैतिकता के प्रभामण्डल) के फीके पड़ने के चिह्न तो सन् 39 के ही लगभग दीख पड़ रहे थे। जब पहली बार राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बने थे। उस समय भी महसूस किया जाने लगा था कि 'राष्ट्रीय मन्त्रि-मण्डल पुराने तौर-तरीके में अपने को ढाल रहे है और उन्हीं को उचित साबित करने की कोशिश करने लगे हैं। यह सब हालांकि बुरा है पर बर्दाश्त किया जा सकता है, पर उससे भी बुरा यह है कि इतनी मेहनत से हमने जनता के दिल में जो ऊँची पोजी-

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृष्ठ 19
2. वही।

शन बनाई है उसे हम धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। हम पेशेवर राजनीतिज्ञों के स्तर पर उतार दिये गये हैं।'[1]

आज भी भारत में शासनसत्ता कुछ अनोखे ही रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रही है। इस प्रकार संकट की स्थिति में तमराच्छादित और अनिश्चिय की स्थिति रूपी घनघोर घटनाओं से दोलायमान आज क्या देश, क्या विदेश, साहित्य, राजनीति का प्रतीक है 'अन्धा युग'।

'अन्धा युग' की उद्घोषणा में इसी तथ्य को परिलक्षित किया गया—

"जिस युग का वर्णन इस कृति में है
× ×
धर्म अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का
× ×
राज शक्तियाँ लोलुप होंगी,
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी।"[2]

आज के जटिल जीवन में मनुष्य इसी तरह जी रहा है। उसकी अन्तरात्मा, मनोवृत्ति चरम त्रास और द्वन्द्व में परिणित हो पाती है, उसकी आत्मा जर्जर विकृत हो गई है—

'युद्धोपरान्त,
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं।
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में।"[3]

इस प्रकार महाभारत का 'अन्धा युग' स्वतः ही आज के पश्चिम और भारतीय साहित्य तथा राजनीतिक विषमता के प्रतीक का मूर्त रूप धारण कर लेता है।

कथात्मक प्रतीकात्मकता

दृश्य-काव्यकार के अनुसार इस कृति में अन्धों को माध्यम बनाकर युग की ज्योति की कथा कही गई है। इसकी नाट्यवस्तु महाभारत के विनाशक भयंकर नर-संहारक युद्ध के उत्तरार्द्ध की कथा को लेकर नाटककार ने युद्धोत्तर स्थिति के लोमहर्षक दुष्परिणामों के परिप्रेक्ष्य में अनेक व्यापक समस्यायों पर प्रकाश डाला। मानसिक संत्रास,

1. 1939 में गांधीजी के नाम लिखे गए नेहरूजी के एक पत्र में।
2. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 9, 10
3. वही : पृष्ठ 10

द्वन्द्व, अनाचार, अमर्यादा, टूटन-विघटन और अनास्था से युक्त वह सम्पूर्ण युग ही अन्धत्व से शापित था, ग्रसित था। मात्र कृष्ण ही वह व्यक्ति थे जो अपनी प्रबुद्धता और युगचेतना से, विकृतियों से उलझी मर्यादा की पतली डोरी को सुलझा सकते थे। चिन्तन और संघर्ष के उपरान्त भी इस कृति में घटनाओं की विभिन्नता नहीं है। दुर्योधन की पराजय, युधिष्ठिर के अर्धसत्य से द्रोण की अमानुषिक हत्या और उससे उत्पन्न अश्वत्थामा की विकृत मनोग्रन्थियाँ, भीम और दुर्योधन का अन्तिम निर्णायक युद्ध, दारुण प्रतिहिंसा से पीड़ित अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का हनन, युयुत्सु का आत्महत्या की क्रोड़ में विश्रान्ति पाना, कृष्ण-गांधारी वार्तालाप तथा कृष्ण की मृत्यु आदि घटनाएँ एक के बाद एक अपना क्रम बनाती चली जाति हैं और पाठक या दर्शक इस प्रवाह में निमग्न होता चला जाता है। "सम्पूर्ण कथानक की बनावट कुछ इस प्रकार की गई है कि वह बराबर एक तान और गतिशील रहता है।'[1]

सम्पूर्ण 'अन्धायुग' की कथा में तृतीय महासमर की पाशविक विभीषिका से आतंकित त्रस्त मानवता को 'अन्धे युग' के महासमर रूपी दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। 'अन्धा युग' की कलात्मक अन्विति और गतिशीलता में लक्ष्य को बेधने का निरन्तर वेग ही नहीं, प्रतीकात्मकता का सशक्त व प्रखर आग्रह भी है। समासतः कथाशिल्प की दृष्टि से 'अन्धा युग' उत्कृष्ट कृति है। 'अन्धा युग' की कथा प्रत्येक महासमर के उपरान्त किसी भी युद्ध-संस्कृति, अमानवीय विघटित विकृत मूल्यों, विकलांग, कुण्ठित और जीर्ण-शीर्ण, क्षत-विक्षत घायल तन-मन की कथा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति

'अन्धा युग' का सबसे सशक्त पात्र अश्वत्थामा है। साहित्यिक क्षेत्रों में नीत्शे और सात्रे आदि ने जिस मनुष्य की कल्पना की, अश्वत्थामा उसी का प्रतीक है और राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित युद्धवादियों, प्रतिहिंसक पशुत्व और न्यूराटिक युद्ध-लिप्सा तथा महाभारत-युग का व्यक्ति-विशेष न होकर उस सम्पूर्ण वर्ग का प्रतीक है जिसकी आत्मा ने युद्ध के संत्रास को प्रत्यक्ष झेलकर अचिन्त्य वेदना झेली है। 'मानव मूल्य और साहित्य' में डॉ॰ भारती ने लिखा है कि "समस्त यूरोपीय चिन्तन ने किसी न किसी रूप में किसी ऐसे तत्व को स्थापित किया है जिसकी आधारशिला विवेक और अन्तरात्मा का अभाव है। कभी उसने रहस्य के नाम पर अविवेक और असंगति को एक प्रभामण्डल से आच्छादित करने का प्रयास किया, कभी मानवीय गौरव का गलत अर्थ लेकर मनुष्य की सभी से विच्छिन्न स्थिति की भ्रान्ति को प्रश्रय दिया, कभी भविष्य के समाज में मानवीय गौरव स्थापित हो सकेगा, इसीलिए आज उसका अभाव है तो होने दो—"ऐसे तर्क दिए—" और कभी मनुष्य को मूलतः बर्बर

1. हिन्दी गीति-नाट्य : कृष्ण सिंहल : पृष्ठ 117

असंस्कृत पशु मानकर उसकी पाशविक अचेतन वृत्तियों को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। ये सभी पद्धतियाँ अन्तरात्मा की व्यर्थता सिद्ध करती गयीं और परिणाम यह हुआ कि एक दिन मनुष्य ने अपने को सिटवेल की पंक्ति के अनुसार "जीसस और उसकी खाई के बीच लटके हुए पाया, जहाँ संसार का अन्त हो जाता है।"[1]

अश्वत्थामा को हम नाजीवादी भावना का प्रतीक भी मान सकते हैं जो मनुष्य के यथार्थ को मान्यता नहीं देता, वह किसी भी यथार्थ, व्यक्ति, देश को पदाक्रान्त कर दलित कर सकता है, किन्तु इस प्रकिया में उसे आत्मसात नहीं कर सकता क्योंकि विघटित और क्रमहीन होने के कारण उसे विनष्ट करने का प्रयास करता है। अश्वत्थामा एक ओर पूँजीवाद के दुष्परिणामों से आक्रान्त क्रूर-हिंसक पाशविकता का भी प्रतीक है और दूसरी ओर जाँ पाल सार्त्रे के नास्तिक अस्तित्ववाद का भी। सार्त्रे ने स्थायी मानव मूल्यों को आमूल अस्वीकृत कर व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता मानता है जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्व निश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्र की सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्रे एक तीव्र संहारकारी अनास्थामात्र है, एक विराटकाय विध्वंसकारी संशय जो सारी स्थापित मर्यादाओं के रूप के मूल्य को ही नहीं मानता।"[2]

अश्वत्थामा मरणोन्मुख संस्कृति का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। प्रख्यात फ्रेंच अस्तित्ववादी नाटककार ग्रैब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में करता है—"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं?··· मरणोन्मुख संस्कृति से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुस्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं। अत: वे जानबूझ कर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही नृशंस तथा विचित्र हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को नहीं करता, उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है। धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य स्वतन्त्र संकल्प से रहित भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव यन्त्र मात्र रह जाता है।

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृष्ठ 29, 30
2. वही : पष्ठ 128, 129

भय-संचार की इस टेकनीक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणु बम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चित्त-पारतन्त्र्य के रूप में।"[1]

भंवर के वक्ष पर विचलित, डूबते हुए अन्धे धृतराष्ट्र की मरणोन्मुख संस्कृति के पोत का अश्वत्थामा सशक्त पक्षधर है। दुर्भिसन्धि और षड्यन्त्रों से परिचालित युद्ध में पिता की क्रूर हत्या से अश्वत्थामा का अहं और स्वाभिमान कराह उठता है, उसकी विद्रोही आत्मा उसे पशु का रूप धारण करने को विवश कर देती है। अश्वत्थामा के रोम-रोम में पीड़ा अंगड़ाइयाँ लेती है। वह बार-बार पीड़ित होता है—

"एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली।"[2]

कोमलतम भावों की भ्रूण-हत्या हो जाने पर केवल मात्र वध उसका धर्म बन जाता है, उसके रोम-रोम से प्रतिहिंसा के विकृत स्वर झंकारते हैं। मानसिक विकृति ने उसे जर्जर और विक्षिप्त बना दिया है। उसका मानव-पट पीड़ा और क्षोभ से कुण्ठित है, उसके मन में ग्लानि, क्षोभ, पीड़ा, निराशा, कुण्ठा आदि मनोग्रन्थियों की सुरंगें बिछी हुई हैं—उसके मन का चरम द्वन्द्व सम्पूर्ण नाटक में तारतम्य हुआ है, जैसे एक धागे में पीड़ा के अनपढ़े कुरूप पीड़ित मोती पिरोकर उसके गले में डाल दिए गए हों, जिसके परिणामस्वरूप महाभारत-काल की सम्पूर्ण अनीति, अमर्यादा, पशुता, बर्बरता का मूर्धन्य प्रतीक बनकर अश्वत्थामा हमारे समक्ष उपस्थित होता है। उसका भविष्य अविवेक से तमराच्छन्न हो जाता है और वह अविवेक का आलिंगन कर वृद्ध याचक भविष्य की हत्या कर तटस्थ व्यक्ति (संजय) और साधारण मनुष्य के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं खींच पाता और वह संजय की (तटस्थ व्यक्ति की) गर्दन भी पशुता से मरोड़ देता है। अतः उसके स्वयं के शब्द उसके व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं—

"जीवित रहूँगा मैं
अन्धे बर्बर पशु सा।
× ×
वध, केवल वध, केवल वध,
अन्तिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।"[3]

वह पुनः कहता है—

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृष्ठ 125, 126
2. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 42
3. वही : पृष्ठ 36

"आत्मघात कर लूं
इस नपुंसक अस्तित्व से
छुटकारा पाकर"[1]

लेकिन अश्वत्थामा आत्मघात नहीं करता क्योंकि उसमें प्रतिहिंसा का जन्म होता है। वह अपनी पराजय और पिता की अमानुषिक क्रूर हत्या से प्रक्षिप्त होकर मानसिक रोगी बन गया है। यहाँ आकर अश्वत्थामा आज के आधुनिक मानव का प्रतीक बन जाता है। यही मनोवैज्ञानिक स्थिति आज के मानव की है। आज ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि मनुष्य के अन्दर पशुत्व उभर आया है। आधुनिक और युद्ध की परिस्थितियां आदमी को अन्दर से ठेलकर, मनुष्यता को समाप्त कर, पंगु और कितना बर्बर बना देती हैं और मानव की मानसिक अवस्था विकृत होकर कोढ़ी बन जाती है, जिससे सम्पूर्ण समाज विक्षिप्तावस्था में जीने के लिए विवश हो जाता है, जिसके दुष्प-रिणाम मनुष्य को अश्वत्थामा की भाँति पशुत्व में परिवर्तित कर देते हैं। उपरोक्त स्थल पर भारती ने युद्ध के परिप्रेक्ष्य में आज की आधुनिक परिस्थितियों का चित्रण कर इसी विकृति और टूटन की कल्पना की है।

युद्ध की विभीषिका और पिता की छलेयुक्त क्रूर हत्या से अश्वत्थामा इस सीमा तक विवेक खोकर मानसिक ग्रन्थियों से लिपट बैठता है कि उसके लिए कोई नीति, नियम स्थिर नहीं रहते और उसकी मानसिक अवस्था जर्जर और खण्डित हो जाती है। वह किसी की भी हत्या करने को उद्यत रहता है—

"वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि
जिसको पा जाऊँ
मरोडूं मैं।"[2]

अश्वत्थामा की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और उत्तेजना की सक्रियता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। वह मन से नहीं चाहता कि वह वध करे किन्तु परिस्थि-तियाँ उसे आदि बना देती हैं और वह न चाहते हुए भी हत्या करने के पश्चात् कहता है—

"पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंने क्या किया ?
क्या मैंने कुछ किया ?"[3]

उसकी मनोग्रन्थि इतनी अधिक विकृत और जर्जर हो जाती है कि वह बर्बरता की चरम सीमा को भी लाँघ जाता है। वह कृतवर्मा के लिए त्रास का कारण बन जाता है।

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 35
2. वही : पृष्ठ 38, 39
3. वही : पृष्ठ 43

उसका भयंकर मुख कृतवर्मा को भय का मूर्त रूप ही दीखता है—

"भय लगता है
मुझको
इस अश्वत्थामा से।"[1]

वह सचेत होना चाहता है। कर्म और अकर्म की चेतना समाप्त हो जाती है। स्नायु-उत्तेजना से वह परिचालित होने लगता है और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपने लिए किए हुए कर्मों का अपने आपको उत्तरदायी नहीं मानता—

"मैंने नहीं मारा उसे...
मैं तो चाहता था वध करना, भविष्य का
पता नहीं कैसे वह
बूढ़ा मरा पाया गया।
मैंने नहीं मारा उसे
मातुल विश्वास करो।"[2]

उसकी मर्यादाहीनता कृपाचार्य के शब्दों में स्पष्ट है—

"पागल हुए हो क्या
कुछ भी मर्यादा, बुद्धि
तुम में क्या शेष नहीं।"[3]

प्रतिहिंसा और पागलपन से परिचालित अश्वत्थामा की मनोवृत्तियाँ उसे प्रतिशोध के दारुण और क्रूर कर्म की ओर प्रेरित करती हैं और वह भविष्य की हत्या कर डालता है, उसकी नस-नस में, शिराओं में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का ताजा रक्त प्रवाहित रहता है। उसके तन की कोमल स्नायुओं तक में 'अन्धा युग' बैठा हुआ है, जिसका परिणाम केवल मनोवृत्तियों को विचलित करना है।

संजय तटस्थ, निर्भीक, विवेकशील शिल्पी का प्रतीक होने के साथ-साथ निरपेक्ष सत्य और बुद्धिवादी उस मानव का प्रतीक भी है जो इन अन्धों की अविवेकी साम्राज्यवाद की चक्रव्यूही नगरी में भटक कर भी त्राण नहीं पाता और निरन्तर मोह-निशा के भंवर में झूलता कण्टकित पथ में भटकता फिरता है। संजय जहाँ महाभारत का ऐतिहासिक पात्र है वहीं आधुनिक मानव का प्रतीक भी है, उस मानव का जो सचेत है, विवेकशील है, तटस्थ है। यह एकमात्र पात्र जो तटस्थ, सचेतन एवं विवेकशील है, जो मर्यादा, नैतिकता सत्य को खण्डित होते हुए देखता है जो तटस्थ होकर भी भटक रहा है, अन्धेरे में छटपटा रहा है—

"वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर

1. अन्धा युग : भारती : 43
2. वही : पृष्ठ 45
3. वही : पृष्ठ 63

है भटक रहा
जाने किस कंटक-पथ पर।"[1]

संजय निरन्तर युगीन परिस्थितियों से ऐंठा हुआ विडम्बनाओं और विसंगतियों की भंवर में गोते खाता है। उसकी मर्म को छूने वाली विडम्बना यह है कि न तो वह इन परिस्थितियों पर विजय की मुद्रा ही अंकित कर सकता है और न ही इनसे पलायन कर विश्राम के सुख में विश्रान्ति पा सकता है। वह निरन्तर वैचारिक और सांस्कृतिक संघर्षों के चट्टानी पाटों के मध्य विवशता से पिस कर अपनी आत्मा को कुण्ठित करता रहता है। 'भारती' ने यहाँ शोभा-चक्र के सार्थक प्रतीक से आज के खण्डित मानव-व्यक्तित्व की निरर्थकता को साकार किया है—

मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा-चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है,
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता।"[2]

संजय को व्यास से अमरता का वरदान प्राप्त है कि—

"हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद
शेष बचोगे संजय तुम,
सत्य कहने को।'[3]

वस्तुतः उसे वरदान की संज्ञा ही दी जा सकती है, वास्तव में यह वरदान अभिशाप को अधिक ध्वनित करता है। प्रत्येक स्थिति में अन्धों से सत्य कहने की एक कठोर अनवरत मानसिक यातना है जो कवि को मिली। संजय अश्वत्थामा के दानवी पंजों में जकड़ा हुआ मृत्यु की आराधना करता है—

"कर दो वध
जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मानसिक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।"[4]

आज के युग में कवि छटपटाता है। उसकी यातना चरम पीड़ा बन जाती है

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 29
2. वही : पृष्ठ 74
3. वही : पृष्ठ 31
4. वही : पृष्ठ 38

कि वह अन्धों से किस प्रकार सत्य कहे। अपनी असहृदयता के कारण वह प्रकारान्तर से युद्ध के एक सार्वकालिक सत्य की ओर इंगित करता है कि युद्ध का मूल कारण अतिशय अन्धी ममता है जिसकी गुंजलिका में बुरी तरह जकड़ा हुआ शासक सामाजिक यथार्थ को उपेक्षित कर देता हैं।

सत्य की त्रासदी का जीता-जागता प्रतीक रूप है युयुत्सु। उसकी आत्मा सत्य की ज्योति का आलिंगन करना चाहती थी इसलिए वह पाण्डवों को सत्य का पक्षधर समझ कर उन्हीं का पक्ष लेता है। जीवन में सत्य को सर्वोपरि मानकर पालन करने वाले युयुत्सु को इसका दण्ड उपेक्षा में मिलता है। उसको सब ओर से उपेक्षा मिलती है और उसकी आस्था के मानदण्ड कृष्ण शापग्रस्त हो जाते हैं। सबकी उपेक्षा और मर्मान्तक अपमान उसकी आत्मा को छलनी कर देते हैं और वह अनास्था से ऊबकर आत्महत्या की क्रोड़ में विश्रान्ति ले लेता है।

भारती ने युयुत्सु के सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या बहुत ही सटीक प्रतीकात्मक चित्र द्वारा प्रस्तुत की है। युयुत्सु का यह प्रतीकात्मक चित्रण कवि-कौशल की उपलब्धि है—

> "मैं हूँ युयुत्सु
> मैं उस पहिये की तरह हूँ
> जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा
> पर जिसे जब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था
> और मैं अपनी इस धुरी से उतर गया।"[1]

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र अन्धी शक्ति-उपासना और नेतृत्व वर्ग के साम्राज्य विस्तारवादी सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिपत्य की संकीर्ण और स्वार्थ भावना के प्रतीक हैं। 'अन्धा युग' पर टी० एस० इलियट के वेस्टलैण्ड का प्रभाव दृष्टिगोचर हो सकता है। इसमें अन्ध-आस्थाहीन मानव संस्कृति की प्रत्यालोचना की गई। प्रथम अंक की आरम्भिक पंक्तियों में कौरव-नगरी के सिंहासन का चित्र चित्रित है—

> "अंधों से शोभित था, युग का सिंहासन
> दोनों ही पक्षों में विवेक हारा
> दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन···
> जो कुछ कोमल था, वह हार गया, द्वापर-युग बीत गया।"[2]

। प्रहरियों का वार्तालाप मार्मिक अभिव्यंजना करता है—

> "आज कौरव वधुएँ विधवा हैं
> लाखों गिद्ध कुरुक्षेत्र को जाते हैं—अपशकुन
> [illegible] में गांधारी धृतराष्ट्र शोकित हैं।"[3]

धृतराष्ट्र-युग के अन्धत्व के साथ-साथ अन्धे शासक के प्रतीक भी हैं। धृत-राष्ट्र ने अन्धे होने पर भी पूरे युग पर अपना शासन-चक्र चलाया। उसकी ममता अविवेक से लिपटी हुई थी। उनके चक्षुपटल पर ममता के कारण अविवेक का अन्धकार छाया हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप वह कुछ भी देखने में असमर्थ थे—

"देखेंगे कैसे वे ?
अन्धे हैं
कुछ भी क्या देख सके थे
जब तक
वे।"[1]

जो आशंका पहले भूचाल बन कर सब की चेतना को स्पन्दित कर गई थी उससे अन्धे धृतराष्ट्र निरपेक्ष और सुप्त थे और अंधा शासक ममता की रजनी की क्रोड़ में आकाश-कुसुम के सुख की कल्पना कर अन्धे स्वार्थ को पाल रहा था। ममता भरी स्वार्थ की गुंजलिका से वशीभूत हो अन्धा धृतराष्ट्र बाह्य यथार्थ और सामाजिक मर्यादा को ग्रहण करने में असमर्थ रहा। उसे यथार्थ के चट्टानी धरातल पर जीवन-यापन करने वाले संसार का ध्यान ही नहीं था—

"पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत...।"[2]

और जब अविवेक की परिणति विनाश में हुई तब यही विनाश उसके बाह्य-यथार्थ जगत् के बोध का माध्यम बना किन्तु उस अन्धे शासक की यह विडम्बना है कि उसे यह ज्ञान और विवेक का बोध उसके लिए दृढ़ता के स्थान पर भय उत्पन्न करता है। महाभारत-युग का शासन सत्तान्ध व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था, जो विवेक और मर्यादा को देख नहीं पा रहे थे। इस प्रकार ये पंक्तियाँ प्रतीकधर्मा बनकर जहाँ महाभारतकालीन अविवेक, खण्डित मर्यादा एवं अन्धत्व को व्यक्त करती हैं, वहीं आज के विश्वयुगीन अविवेक का भी मानवता को कुचलने के लिए सिद्धान्तों का कुचक्र चलाती हैं। इस प्रकार महाभारत की यह पीड़ा, आधुनिक मानव की पीड़ा को भी उद्घाटित करती है। युधिष्ठिर नेतृत्व वर्ग के साथ-साथ पेशेवर राजनीतिक के भी प्रतीक हैं। उनकी शासन-व्यवस्था में प्रजा (जनता) सुखी नहीं है और न ही पूर्व की शासन-व्यवस्था में सुखी थी। युधिष्ठिर उस मनुष्य के प्रतीक भी हैं जो विजय की उल्लासमयी पीड़ा में अन्दर कहीं से खोखले हैं कहीं बर्फ की तरह गल रहे हैं। उन्हें ऐसा लगता है मानों यह युद्ध, यह विजय के क्षण उनकी अन्तरात्मा को विघटित और

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 15
2. वही : पृष्ठ 17

उनका मर्मान्तक उपहास कर उनके व्यक्तित्व-अस्तित्व को क्षार कर खण्ड-खण्ड कर रहे हैं, मानो उनका विराट् सत्य घायल होकर आहत साँसें ले रहा है। वह विजित वर्ग के होने पर भी अपने-आप में असन्तुष्ट हैं। 'अन्धा युग' का वृद्ध याचक लेखक के दृष्टि-कोण को समर्थ वाणी देने में समक्ष है। वह लेखक की विचारधारा का मूर्धन्य प्रतीक है। वह मानव-भविष्य को शिवं से अलंकृत करने का उपदेश देता है। लेखक की दृष्टि कोरे भविष्य कथन-मात्र से ही नहीं लिपटी रही, वर्तमान क्षणों में नूतन सर्जना को भी महत्त्व देती है। भारती की यह विचारधारा स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती है—

"पता नहीं
प्रभु है या नहीं
किन्तु उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा ही बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।"[1]

भारती प्रगतिशील साहित्यकार हैं और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को पूर्णतः निभाया है। अन्त में वह विश्व के समक्ष मानव-मूल्य के रूप में (प्रभु) का साक्षात्कार कर मानव-मूल्य की उद्घोषणा करता है—

"वे हैं निराश
और अन्धे
और निष्क्रिय···
···मैंने सुने हैं ये अन्तिम वचन
मरणासन्न ईश्वर के
जिसको मैं दोनों बाँहें उठाकर दोहराता हूँ
    क्या कोई सुनेगा ?···
    क्या कोई सुनेगा
    क्या कोई सुनेगा।"[2]

'अन्धा युग' के प्रहरी युग्म दास-वृत्ति और जनसाधारण व्यक्ति के प्रतीक हैं। 'मानव-मूल्य और साहित्य' में डॉ॰ भारती ने अपने इन विचारों को सशक्त अभि-व्यक्ति दी, उन्होंने लिखा—"लेकिन पिछले दस वर्षों में, न केवल विदेशों में वरन् भारत में भी राजनीति का महत्त्व घटा है। मानव-नियति को केवल राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है, सत्य इसके विपरीत ही सिद्ध हुआ। राज-

1. अन्धा युग : भारती ; पृष्ठ 24
2. वही : पृष्ठ 129

नीति की कई चिन्तनधाराओं ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह दावा पेश किया था कि वे मानव-मुक्ति को ही लक्ष्य बना कर चल रही हैं, पर इन्होंने जिन व्यवस्थाओं को स्थापित किया उनको जनतन्त्र का नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओं में तन्त्र औरों के ही हाथ में रहा, 'जन' तो ज्यों का त्यों दास बना रहा। यह बात केवल विदेशों पर ही लागू नहीं होती। दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देश पर भी लागू होता दीख रहा है।"[1]

भारतीय जनता को भरपेट भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान चाहिए। इसमें दो मत नहीं हो सकते किन्तु दूसरी ओर उसे सम्मानता की उपलब्धि भी होनी चाहिए। प्रहरी युग्म का वार्तालाप इस मत को स्पष्ट व्यंजित करता है—

"जैसे हम पहले थे
वैसे ही अब भी हैं।"[2]

प्रहरी युग्म का वार्तालाप जनसाधारण का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है—

शासक बदले
स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले वे ही शासक अच्छे थे
...अच्छे थे...
अन्धे आदेश मिले
नाम उन्हें हम युद्ध दें या शान्ति दें।
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की।"[3]

और जीवन की दासता और यांत्रिकता देखते ही बनती है—

"सूने गलियारे सा सूना यह जीवन भी बीत गया
क्योंकि हम दास थे
केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अन्धे राजा की
नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मत।"[4]

पश्चात् कवि ने पुनः एक व्यतिरेक को उपस्थित किया है। एक ओर तो मंच पर उदासी टहलती है और दूसरी ओर प्रहरी टहलते हैं। प्रहरियों की पदचाप उदासी और शून्यता की सतह को तोड़ती है और उसके अन्दर जो पीड़ा वर्तमान है, उसे छलछला देती है। रंगमंच पर टहलने वाले बूढ़े प्रहरियों की पदचाप और वार्तालाप उदासी और शून्यता को बेधकर उसे और भी गहरा कर जाते हैं।

प्रहरियों के वार्तालाप में व्यंग्य, विडम्बना और परितप्त वेदना वर्तमान है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे अहसास से थके हुए हैं। इन्होंने सत्रह दिनों के लोमहर्षक

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृष्ठ 73, 74
2. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 118
3. वही : पृष्ठ 107, 108
4. वही : पृष्ठ 27

संग्राम में भाग तो नहीं लिया किन्तु यहाँ राजमहल के सूने गलियारे में पहरा दे रहे हैं। ये शारीरिक रूप से अधिक मानसिक स्तर पर थके हुए जान पड़ते हैं। इनका सारा कर्तव्य-कर्म निरुद्देश्य है और निरर्थक प्रयत्न थकान और व्यक्तित्व को विघटन के अतिरिक्त और कुछ दे ही क्या सकता? ये प्रहरी युद्ध में भाग लेकर अपने भाले अर्थात् सामर्थ्य का उपयोग कर सकते थे। किन्तु जब उन्हें अवसर नहीं मिला तब वह सामर्थ्य व्यर्थ होकर उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व को ही विघटित करने लगती है और यह विघटन मानसिक थकान बनकर छा जाती है।

उनके समक्ष अब एक मूलभूत प्रश्न मुँह बाये खड़ा है कि उनके जीवन की सार्थकता आखिर है क्या? वे अब अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें एक विकृत शासन-तन्त्र के नीचे दबा रहना पड़ा है। मात्र पहरा देना उनका काम है। यह कर्तव्य-कर्म शासनतन्त्र के नीचे दबा कुछ भी सार्थक नहीं मालूम पड़ता, जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है। उनका जीवन और कर्तव्य-कर्म शासन व्यवस्था का ही एक यांत्रिकीकरण होकर रह गया है। शासन-तन्त्र के लौह अस्थिपंजर में उनकी स्वतन्त्रता, कोमल भावनाएँ, उनका उद्देश्य सब समाप्त हो गया है और उनका जीवन भी शासनतन्त्र का एक अंग बन कर रह गया है। उनके जीवन का जो मूल उद्देश्य होना चाहिए, इस बोध को अपहृत कर लिया गया है जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है तब पहरा देने का क्या अर्थ? किन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि उन्हें न चाहते हुए भी निरुद्देश्य पहरा देना पड़ता है। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं बल्कि प्रतीक भी हैं। हरेक मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अन्धकार है, जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेच्छानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है, जीना उसके लिए भार बन जाता है। कम लोग हैं जो जीवन जीते हैं, ऐसा लगता है कि समय ही उन्हें जीता है, सोखता है। लेकिन समय को हम जीयें न कि समय हमें जीये। यह तभी सम्भव है जब हर प्रकार से हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हो और जब वह हमें नहीं मिलती तब इन बूढ़े प्रहरियों की तरह ही हमारा जीवन व्यर्थ हो जाता है, जीवन यांत्रिक बन जाता है। इस प्रकार ये पंक्तियाँ मूलभूत जीवन-सत्य का स्पर्श करती हैं।

प्रहरी के जीवन और रक्षणीय वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं है और जब बिना सम्बन्ध के कर्म में प्रवृत्त हुआ जाता है तब एक शून्यता और मरुस्थल का उदय होता है। सत्रह दिनों तक वे लगातार घुट-घुट कर जीते हैं और उनका व्यक्तित्व विघटित होता चला जाता है। सत्रह दिनों का कार्य अन्ततः निरर्थक प्रमाणित होता है और यह निरर्थकता उन्हें तोड़ने लगती है। केवल सम्बन्ध की शून्यता नहीं है, सम्बन्ध विकृत रूप में है। उन्हें सभ्यता-संस्कृति की उस विकृति की रक्षा न चाहते हुए भी करनी पड़ती है और यह विकृति अन्तरात्मा का ध्वंसावशेष करती चली जाती है। न तो ये अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाते हैं और न विकृति का प्रतिरोध कर पाते हैं

और तब ये निष्क्रिय नपुंसकता में परिणत होते चले जाते हैं किन्तु वे समर्थ हैं। उनके पास अपना विवेक है जिसके आधार पर वे अपने अनुभवों और कार्यों का मूल्यांकन करते हैं। यह विवेक और समर्थता उनकी पीड़ा को और भी तीव्रता प्रदान करते हैं। यह विवेक उन्हें सालता है। समस्त युद्ध जब अविवेक से परिचालित है तब उनका विवेक उन्हें पीड़ित करता है। सत्रह दिनों के युद्ध का अनुभव बार-बार उन्हें काटता है। ये प्रहरी व्यापक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक बन जाते हैं।

माता गान्धारी अन्ध मनोवृत्तियों का प्रतिनिधि प्रतीक है, जिसकी विचार-शीलता में बौद्धिक तर्कों को स्थान नहीं। गान्धारी का चरित्र इस बात का प्रमाण है कि मानव-मन पर अवचेतन की बहुत गहन पकड़ होती है। गान्धारी का व्यवहार उनकी भावना के अनुकूल प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील होता रहता है। अन्धी ममता से वशीभूत कौरवों की विजय का मोह गान्धारी के बाह्य-जगत् को विश्लेषित कर भविष्य के प्रति आशान्वित होने का अवकाश नहीं देता। गान्धारी की मनःस्थिति भी अश्वत्थामा के समानान्तर चलती है। उसकी मर्मान्तिक गहरी व्यथा और घोर निराशा इन पंक्तियों से ध्वनित है—

"माता मत कहो मुझे
तुम जिसको कहते हो प्रभु
वह भी मुझको माता ही कहता है
शब्द यह जानते हुए लोहे की सुलाखों सा
मेरी पसलियों में धँसता है।"[1]

सत्रह दिनों की युद्ध विभीषिका का, ताण्डव विनाश लीला का, चित्र गांधारी मर्मान्तक रूप से अपने पति के समक्ष खींचती है—

सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक-एक करके मारे गये
अपने इन हाथों से मैंने उन फूलों सी वधुओं की कलाई से
चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से सिन्दूर की रेखाएँ पोंछी हैं।"[2]

संजय से अश्वत्थामा द्वारा किए गए घृणित और वीभत्स कार्यों का विस्तृत वर्णन सुनकर वह एक प्रकार की आत्मतुष्टि का अनुभव करती है। विक्षुब्ध और व्याकुल होकर वह कुरूपता के प्रतिरूप भयंकर अश्वत्थामा को संजय की दिव्य-दृष्टि के माध्यम से चाक्षुष करना चाहती है क्योंकि वह वीरता का शृंगार है।

पुत्रों की मृत्यु की शोकमग्न ज्वाला और दुर्योधन का कंकाल गांधारी को

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 22
2. वही : पृ० 22

अन्दर तक कुण्ठित और जला कर क्षार कर देता है । इस कुण्ठा की प्रतिक्रिया कृष्ण को शाप देने में होती है—

"प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह···
···प्रभु हो ।
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह ।"[1]

किन्तु कृष्ण की स्वीकारोक्ति पर—

"यह क्या किया तुमने
(फूट कर रोने लगती है)
रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है ।"[2]

माता गान्धारी का जीवन-चक्र सहज मनोवृत्तियों से परिचालित है। हमारी अन्ध मनोवृत्तियों को तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण यह सब सामाजिक आवरण हैं जिनसे हमको अलंकृत किया जाता है । इस झूठे आडम्बर से माता गान्धारी को नफरत थी । इसलिए स्वेच्छा से उन्होंने आँखों पर पट्टी चढ़ा ली थी ।

इन सब के मध्य एकमात्र केन्द्र-बिन्दु है—कृष्ण, जिनकी प्रबुद्धता और सजलता ने सम्पूर्ण युग की व्याख्या को भोगा है, प्रत्येक व्यक्ति के मरने पर स्वयं मृत्यु का आलिंगन किया है, फिर भी युग की आस्था और विश्वास को स्थिर रखने में, रक्षा करने में समर्थ है, क्योंकि वह साहस, स्वतन्त्रता, सृजन और मानव-मूल्यों के प्रतीक-रूप हैं । इस अन्धे युग में भी वे भविष्य की सम्भावनाओं और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठापना में समर्थ हैं । इसलिए 'अन्धा युग' में प्रभु की वाणी उद्भासित होती है—

"मेरा दायित्व ही स्थिर रहेगा
हर मानव मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन-निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादायुक्त आचरण के···
···जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार ।"[3]

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 100
2. वही : पृ० 101
3. वही : पृ० 127, 128

कृष्ण का व्यक्तित्व विरोधी प्रवृत्तियों से संयुक्त है। उनमें अन्धकार एवं प्रकाश, आसक्ति एवं अनासक्ति का अन्तर्विरोध है। जहाँ सब लोग अन्धे, पथभ्रष्ट एवं युद्धरत हैं वहाँ कृष्ण ही ऐसे हैं जो अनासक्त हैं, तटस्थ हैं किन्तु उनकी अनासक्ति भी समानान्तर विरोध में प्रकट है। जहाँ वे कौरव पक्ष को अपनी सेना देकर सहायता करते हैं, वहीं पाण्डव-पक्ष में स्वयं को समर्पित करते हैं, इस प्रकार यह मात्र तटस्थता एवं अनासक्ति नहीं, कृष्ण के व्यक्तित्व का विभाजन है। वे स्वयं निर्णय करने में असमर्थ थे कि पक्ष किसका लिया जाए ? इस प्रकार कृष्ण ब्रह्म नहीं, आधुनिक संशय-ग्रस्त मानव के प्रतिनिधि अथवा प्रतीक बन जाते हैं और तब वे सत्य असत्य का निरपेक्ष वरण नहीं करते, सत्य-असत्य को परिस्थिति सापेक्ष्य मानकर परिस्थिति के के अनुसार कार्य करने लगते हैं। कृष्ण युद्ध की सारी पीड़ा को एकाकी झेलते हैं और कृष्ण के माध्यम से आधुनिक युद्ध-पीड़ित उस मानव का चित्र उभरता है जो यह मानता है कि कोई भी आदर्श एवं मर्यादा उसका उद्धार नहीं कर सकती। पीड़ा झेलना उसकी नियति है और उसका उद्धार उसके अपने ही हाथों से होगा। उसे एकाकी ही संघर्षमय परिस्थितियों से जूझते हुए प्रकाश-पथ की ओर बढ़ना पड़ेगा।

प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु की परिणति मानव ही है और प्रभु मानवीय मूल्यों की समग्रता का पुंजीभूत रूप है—

"What will you do, God, when I die ?
When I your pitcher, broken, lie ?
I am your grab the trade you ply ?
You lose your Meaning, losing me."[1]

व्यास शान्तिकामी नेता का प्रतिनिधित्व करते हैं और बलराम उग्रतावादी निष्क्रिय शक्ति को वाणी देते हैं। गूंगा भिखारी युद्ध के पश्चात् हुए विकलांग मानव का प्रतीक चित्र है। द्रोण और भीष्म आदि रोटियों के वशीभूत हैं। यह गुलामी और परवशता उन्हें अपने स्वामी के लिए युद्ध करने को तो बाध्य करती ही है इसने उनकी सत्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, साहसिकता आदि के गले में फाँसी का फंदा डाल दिया है।

'अन्धा युग' में पात्रों का प्रतीकात्मक के महत्व को स्वीकार करते हुए मनोहर वर्मा ने लिखा है—'अन्धा युग' में पात्रों का प्रतीकात्मक महत्व इतना बढ़ गया है कि वे मानवीय अस्तित्व को खोकर विशेष विचारधारा या कुण्ठा के प्रतीक मालूम होने लगते हैं जैसे युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र नेतृवर्ग की अन्धी शक्ति-उपासना के प्रतीक, गान्धारी घबराई हुई उस मानवता का जोकि युग के बर्बर और अमर्यादित नैतिकता की प्रतिक्रिया में कटु निराशा की उद्धत अनास्था का मार्ग पकड़ लेती है।"[2] इसी प्रकार 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता की चर्चा करते हुए ज्वालाप्रसाद

1. मानव मूल्य और साहित्य : भारती : पृ० 132, 133
2. आलोचना ; अक्टूबर 1956 : पृ० 119

खेतान ने अपनी पुस्तक 'सृजन के आयाम' में लिखा—"अन्धा युग के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट् भारतीय मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है, जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रहकर 'अन्धा युग' मानव-मन के अन्तर्गत का महाकाव्य बन गया है।"[1]

प्रतीकात्मकता के अन्य धरातल—

देशकाल के माध्यम से ही परम्पराओं और संस्कारों से चले आते प्रतीक अपनी अर्थव्यंजना के गौरव को सुरक्षित रखने के लिए आधार प्राप्त करते हैं। इसलिए स्वतः ही प्रतीक नाटकों की देशकालगत सत्ता महत्वपूर्ण हो जाती है। काल का चक्र ही अपनी खरोंच से प्रतीकों की अर्थगत महत्ता को उदित और अस्त करता है। अतः प्रतीक सदा वर्तमान को वर्तमान के माध्यम से या वर्तमान को अतीत के माध्यम से व्यक्त करते हैं। भारती के 'अन्धा युग' में वर्तमान को अतीत के प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति दी गई है।

काल की दृष्टि से 'अन्धा युग' पर विचार किया जाए तो इसका घटनाकाल महाभारत-युद्ध के पश्चात् से लेकर कृष्ण की मृत्यु तक फैला हुआ है। इसी कारण युद्धोत्तर स्थितियों से उत्पन्न विभीषिकाओं और टूटन-विघटन का वातावरण अधिक गहराया हुआ है।

आज के जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में विज्ञान का स्थान सर्वोपरि है और इस शताब्दी में विज्ञान की सबसे भयंकर उपलब्धि अणुबम है जिसके कारण मानव जाति के संहार का त्रास छाया हुआ है। इसी अणु तथा उद्जन बमों के पैशाचिक दुर्दान्त, अभिशप्त प्रभाव को 'भारती' ने 'अन्धा युग' में चित्रित किया—

> ज्ञात तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का
> यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर-पशु,
> तो आगे आने वाली सदियों तक
> गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
> नदियों से बह-बह कर आयेगी पिघलती आग।[2]

यहाँ ब्रह्मास्त्र अणुबम का सार्थक और स्पष्ट प्रतीक है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की संभावना ने विश्व को त्रस्त कर रखा है। इसी लोमहर्षक संत्रास की स्थिति को (वातावरण को) भारती ने यहाँ सशक्त और समर्थ अभिव्यंजना देकर अपने आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया। व्यास के उपरोक्त शब्द आज के अणु-प्रयोगों (हिरोशिमा और नागासाकी के सन्दर्भ में) की भयानकता और उससे उत्पन्न

1. सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृ० 153
2. अन्धा युग : भारती : पृ० 92, 93

वातावरण को चित्रित करने में मानों पुरानी शब्दावली का ही उपयोग कर रहे हैं।

दृश्य-काव्यकार ने वातावरण को गहन, मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए मार्मिक घटनाओं, प्रतीकों और चाक्षुष दृश्य-योजनाओं का आश्रय ग्रहण किया। प्रहरियों का वार्तालाप युद्ध की भयंकरता का चित्र आँखों के समक्ष मूर्तिमान कर देता है—

प्रहरी—1 "बादल नहीं हैं
ये गिद्ध हैं
लाखों, करोड़ों, पाँखें खोले...
× × ×
प्रहरी—2 झुक जाओ, झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ
नर-भक्षी हैं, ये गिद्ध भूखे हैं।"[1]

सभी दृष्टियों से विवेचित करने के उपरान्त 'अन्धा युग' का वातावरण प्रभावशाली होने के साथ ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भी देता है। अतीत के परिणाम को विम्बित करने के साथ-साथ भविष्य की दिशा को भी निर्देशन देता है।

प्रतीकात्मक शब्दों और स्थितियों का सटीक उपयोग भारती की एक अन्यतम विशेषता है। प्रहरियों द्वारा गिद्धों को माध्यम बनाकर युद्ध की स्थिति और उलूक-काक-घटना द्वारा अश्वत्थामा और द्रौपदी के पुत्रों के हनन का निदर्शन बड़ी ही प्रतीकात्मक और सांकेतिक व्यंजना देता है। व्यक्ति की मूल वृत्तियों का केन्द्र-बिन्दु अवचेतन मन है जो अपनी क्रोड़ में व्यक्ति की मूल वृत्तियों का एक व्यापक और विराट् स्वरूप समाहित किए रहता है। व्यक्ति के 'अवचेतन मन' और 'अहं' के लिए भारती ने क्रमशः 'अन्ध-गह्वर' और 'अन्धे बर्बर पशु' प्रतीकों को अपनाया—

"हम सबके मन में कहीं एक अन्धा गह्वर है
बर्बर पशु, अन्धा पशु, वास वहीं करता है
स्वामी जो हमारे विवेक का है।"[2]

समग्रतः लेखक के अनुसार 'अन्धा युग' अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा है। नैतिक मूल्यों से कुण्ठित, स्वार्थान्ध, मर्यादाहीन, उस युग को युद्ध की दारुण विभीषिका में भस्मित करने के पश्चात् आस्था, विश्वास और सृजन की कसौटी पर कुन्दन बनी जो चेतना कृष्ण के व्यक्तित्व से उद्भासित होकर विकीर्ण होती है, वही इस नाटक का केन्द्रीय भाव, उद्देश्य है। उद्देश्य की प्रतीकात्मकता ने तृतीय विश्व-युद्ध की त्रासदायक स्थितियों और द्वन्द्वों के मध्य चल रहे वर्तमान युग को ज्योति और विश्वास देने का प्रयास किया है।

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 14
2. वही : पृ० 21

पंचम अध्याय

'अन्धा युग' की पात्र-परिकल्पना

इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि चरित्र नाटक के सशक्त और सबल अंग होते हैं। सच तो यह है कि प्रखर चरित्रों के लिए ही नाटक की कथा-योजना के सूत्र पिरोये जाते है। "चरित्र के माध्यम से ही कथावस्तु बनती है। चरित्र का व्यक्तित्व, इसकी इच्छाशक्ति ही नाटक का दूसरा कार्य-व्यापार है। नाटक के अन्य तत्वों के अनुरूप ही चरित्र के अनेक रूप, उनके निर्माण के विभिन्न शिल्प नाट्य साहित्य में देखने को मिलते हैं"[1] किसी भी रचना में चरित्रों का निर्माण करने के लिए दो विधियों को अपनाया जाता है—(i) प्रत्यक्ष, (ii) परोक्ष। प्रत्यक्ष विधि में पात्रों के क्रिया-कलापों और स्वगत कथनों के माध्यम से उनके चरित्र को जाना जाता है और परोक्ष में किसी पात्र विशेष के विषय में अन्य पात्रों के कथन और उनकी धारणाओं के आश्रय में चरित्र-चित्रण होता है। प्रतीक-नाटकों के चरित्र आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों हो सकते हैं।"[2] किन्तु जहाँ उनके चरित्र को यथार्थ की कसोटी के समक्ष रखना होता है, वहाँ उन चरित्रों को या तो उनके अन्दर निहित सम्पूर्ण कुरूपता और वीभत्सता में छोड़कर जीवन के असुन्दर पक्ष को देखा-परखा जाता है या फिर उनके चरित्रों की परिणति किसी आदर्श में कर दी जाती है। इन स्थितियों से घुलकर चरित्र सहज आरोह-अवरोह के कणों को अपने अन्दर समाहित किए हमारे लिए आत्मीय बन जाते हैं।

.पुराण-पात्रों की आधुनिक प्रासंगिकता—

आधुनिक युग के प्रतीक नाटकों में यथार्थ स्थितियों से जीवित चरित्रों को आदर्श की ओर उन्मुख गतिमयता प्रदान कर हमारी अंतरंगता देने का प्रयास दृष्टि-गोचर होता है। 'अन्धा युग' एक प्रतीकात्मक दृश्य-काव्य है। 'अन्धा युग' के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवम् अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट

1. रंगमंच और नाटक की भूमिका : डा० लक्ष्मीनारायण लाल : पृ० 117
2. "चरित्रों के चित्रण में आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता है। यथार्थ वह है 'जो' है पर आदर्श वह है जो होना चाहिए।"—
आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान : डा० श्यामनन्दन किशोर : पृ० 235

नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट् मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करती है; जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रह कर 'अन्धा युग' मानव-मन के अन्तर्जगत का महाकाव्य बन गया है।"[1] इसी प्रकार मनोहर वर्मा ने अपना मत व्यक्त किया है कि "अन्धा युग में चरित्र-चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विद्वेष कुण्ठाओं के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पतनोन्मुख संस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं।"[2] एक विशिष्ट उद्देश्य-पूर्ति के लिए ही भारती ने 'अन्धा युग' के पात्रों को प्रतीकात्मक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रमाण को पुष्ट करने के लिए 'अन्धा युग' के प्रारम्भ और अन्त से उदाहरण देने प्रर्याप्त होंगे—

"राज्य शक्तियाँ लोलुप होंगी
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिपकर दिन काटेगी
× × ×
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
× × ×
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।"[3]

अन्त में—
"हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति—उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है लज्जाजनक पराजय है।।"[4]

"नाटक के समूचे शिल्प पर चरित्र की स्पष्टता, निश्चितरूपता निर्भर करती है। जो नाटक मूलतः प्रस्तुतीकरण के लिए उसी की सारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के बीच से लिखे गये होते हैं, उनके चरित्र बड़े ही समृद्धशाली व्यक्तित्व और निजत्व के होते हैं और उनमें एक अजीब रंग और प्रभाव होता है क्योंकि ऐसे चरित्र 'कार्य' के बीच अपना सहज निर्माण पाते हैं।"[5] भारती ने निर्देश में लिखा है कि "अन्धा युग रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था।"[6] इसलिए स्वतः ही 'अन्धा युग' की चरित्र-सृष्टि नाटकीय प्रभावयुक्त होगी। प्रत्यक्ष और परोक्ष विधि के अतिरिक्त भारती ने स्वयं पात्रों का चरित्र-विश्लेषण भी किया। काव्यरूपक में कवि की ओर

1. सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृ० 153
2. आलोचना (जनवरी 1956) : पृ० 118
3. अन्धा युग : भारती : पृ० 10
4. वही : पृ० 130
5. रंगमंच और नाटक की भूमिका : डा० लक्ष्मीनारायण लाल : पृ० 118
6. अन्धा यग : भारती : पृ० 5

से पात्रों का चरित्र-विश्लेषण करना संभव नहीं होता किन्तु भारती ने कथागायन के अन्तर्गत अपने बुद्धि कौशल का परिचय देते हुए इस पद्धति का सफलता से सार्थक उपयोग किया है। प्रमाण को पुष्ट करने के लिए हम भीमादि पाण्डव-बन्धुओं के चरित्र विश्लेषण को दृष्टिगत कर सकते हैं—

"थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी।"[1]

'अन्धा युग' के वृद्ध वाचक, गूंगे सैनिक और प्रहरियों के व्यक्तित्व कवि की कल्पना का चमत्कार है। निर्देश में भारती ने भी लिखा है—"...कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ।"[2] डॉ० श्रीपति शर्मा ने भी लिखा है कि "अधिक पात्र प्रख्यात हैं परन्तु कुछ पात्र कल्पित भी हैं।"[3] भारती ने शेष पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व और पौराणिक गुणों को आधुनिक युगीन सन्दर्भों से जोड़ते हुए सफलतापूर्वक रक्षित किया।" महाभारत के समान ही 'अन्धा युग' के पात्रों में भी किसी का चरित्र सर्वथा निर्मल नहीं है। पतिव्रता गान्धारी, धर्मराज युधिष्ठिर तथा मर्यादा-रक्षक कृष्ण सभी के व्यक्तित्वों में कहीं न कहीं धब्बा अवश्य है क्योंकि वे सब मानवीय विकास की सीढ़ियाँ हैं। इस विकास को आगे बढ़ाते जाना ही मानववादी की सबसे बड़ी आस्था है।"[4] शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने भी लिखा है—"धर्मवीर भारती की सफलता इसमें सन्निहित है कि उन्होंने मर्यादा और आस्था की अपेक्षा अनास्था का अधिक प्रबल प्रतिनिधित्व पात्रों द्वारा कराया है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारती में केन्द्रापगामी प्रवृत्ति अधिक उपलब्ध होती है।"[5] वस्तुतः 'अन्धा युग' में अनास्था सर्वत्र व्याप्त होने के कारण चरित्र मर्यादा की अपेक्षा अनास्था के अधिक निकट है। प्रत्येक चरित्र विघटित है—आस्था की मनोवृत्ति किसी भी पात्र में उपलब्ध नहीं होती। "अन्धा युग' के चरित्र निश्चित ही अन्धे और कुण्ठाग्रस्त हैं किन्तु उनको एक सूत्र में बाँध कर चलने वाली कवि की लेखनी में एक संयत, मर्यादा, नैतिकता का आग्रह और आशावादी मानवता की झाँकी मिलती है। विक्षिप्त एवं उत्पीड़ित कलाकार आशा, संयम, विश्वास...।"[6] किन्तु यह मानना पड़ेगा कि "...उसके चरित्र किसी न किसी रूप में अन्धे, पथभ्रष्ट, निष्क्रिय और आत्महारा हैं किन्तु लेखक ने इसी कुण्ठा, निराशा और अन्धापन में सत्य की खोज की है।"[7] वस्तुतः 'अन्धा युग'

1. अन्धा युग : भारती : 103
2. वही : पृ० 4
3. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : डा० श्रीमति शर्मा : पृ० 367
4. हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० 93
5. नया हिन्दी काव्य और विवेचना : शम्भूनाथ पृ० 140
6. आलोचना (अक्तूबर 1956) : पृ० 118
7. छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य : डा० विश्वनाथप्रसाद तिवारी : पृ० 155-156

की विशिष्टता उसके चरित्र-चित्रण में सन्निहित है। बाह्य-विधान पर अधिक दृष्टि न होकर काव्य-नाटक में रचनाकार की दृष्टि पात्रों की मानसिक स्थितियों और संघर्षों की ओर अधिक रहती है, वही मुख्य है। भारती ने अश्वत्थामा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु की मन:स्थिति के स्तरों का सुन्दर सशक्त उद्घाटन किया है।"[1]

पात्र-कल्पना में मनोवैज्ञानिक और मिथकीय धारणा का योग

महाभारत के अधिकांश पात्र असाधारण हैं। उनके साथ जो कथाएँ चलती हैं, वे उन्हें मिथक बना देती हैं। 'अन्धा युग' के धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा आदि अपने नाम और काम दोनों से मिथक हैं। स्मरण रखना चाहिए कि ये न आदिम मिथक हैं और न उपनिषद्‌कालीन। इन्हें ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति की फलश्रुति कहा जा सकता है। इसलिए उन्हें आज की ह्रासोन्मुख मूल्यहीन संस्कृति से सार्थक ढंग से सन्दर्भित किया जा सकता है। आज के सन्दर्भ में उनका अर्थापन्न गहरे अर्थ में मनोवैज्ञानिक है। उसकी संरचना में उसने जो 'माइथोमोहक' दृष्टिकोण प्रयुक्त किया है, वह उसे मिथकीय अन्विति और पूर्णता देती है···प्रभु की मृत्यु भी एक प्रकार का मिथक है। इस मिथक के आधार पर नीत्शे के उस सत्य को···ईश्वर मर गया—स्वर दिया गया है लेकिन यह नीत्शे के स्वर से अलग है। फिर भी उससे एक मानवीय आस्था का उदय होता है क्योंकि प्रभु का दायित्व लोगों ने लिया है। जिन लोगों का दायित्व प्रभु पर है, वे संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा की तरह निष्क्रिय, आत्मघाती और विकलांग होंगे। इसका मिथकीय समापन दायित्व के नये मूल्यबोध की ओर इंगित करता है। यह दायित्व स्वयं व्यक्ति का है। व्यक्तित्व और दायित्व के बीच प्रभु को खड़ा करने की आवश्यकता नहीं है।"[2] कुछ विद्वान् महान् ग्रन्थों में आए हुए चरित्रों को मनमाने ढंग से प्रयुक्त करने के लिए नाटककार को दोषी मानते हैं। उनका विचार है कि केवल एक ही तत्व, अर्थात् कृष्ण इस कृति में महाच्चरित्र के रूप में उपस्थित हुए हैं जिनके प्रति कवि की समस्त आस्था, दिखाई देती है। कृष्ण को स्वीकार कर शेष सबको अस्वीकार करना अर्द्धसत्य से अधिक कुछ नहीं है क्योंकि महाभारत में कृष्ण के महान् अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है। यद्यपि लेखक ने उन अन्य पात्रों को अपनी सीमित नाट्यकृति में नहीं आने दिया है, फिर भी पाठक के संस्कारों को वे बार-बार कचोटते रहते हैं और भारती की सारी दार्शनिकता के बावजूद भारतीय संस्कार उससे प्रभावित नहीं हो पाते।"[3] भारती ने 'अन्धा युग' में "लगभग सभी प्रमुख पात्रों के मानव की अन्तश्चेतना तथा उसके मन:व्यापारों, मनोभावों, अतृप्तेच्छाओं एवं मानसिक घात-प्रतिघातों का

1. हिन्दी नाटक ; सिद्धान्त और विवेचना : डा० गिरीश रस्तोगी : पृष्ठ 196
2. धर्मयुग (जनवरी 7, 1962) : पृष्ठ 52
3. धर्मयुग (अगस्त 13, 1967) : पृष्ठ 19

गतिमय एवं द्वन्द्वात्मक चित्रण उसमें किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अन्धा युग' के पात्रों की वृत्ति अन्तर्मुखी है, जो मानसिक जटिलताओं, अनैक्य, आन्तरिक भेदभाव, असन्तोष, घातक तृष्णा, नैराश्यपूर्ण आकांक्षाओं, मनोविकृति, प्रतिशोध, ग्रन्थि और अहंवाद से ओतप्रोत है।"[1] इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि 'अन्धा युग' का सबसे जीवन्त और सशक्त पात्र अश्वत्थामा है क्योंकि उसके चरित्र की कुण्ठाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। "भारती की कलम से निकला सबसे सफल, सशक्त मार्मिक पात्र अश्वत्थामा 'अन्धा युग' में अपनी सारी मनोग्रन्थि, व्यक्तित्व की असमानता के साथ उपस्थित है।"[2] डॉ० बच्चनसिंह के अनुसार अश्वत्थामा एक असामान्य पात्र (Abnormal character) है। 'अश्वत्थामा' विमंथित अन्तर्मन की विक्षुब्ध मूर्ति है। महाभारतकाल की अनैतिकता उसमें पुंजीभूत-सी हो गई है। वह सामान्य स्थिति में न रहकर बहुत कुछ असामान्य पात्र (Abnormal character) हो गया है। भारती ने उसके घनीभूत क्षणों को काव्यतत्व से सन्निविष्ट कर अभिव्यक्ति दी है।"[3] श्री प्रतापनारायण टण्डन लिखते हैं—'अन्धा युग की प्रमुख कमी यह बताई जा सकती है कि इसमें किसी भी ऐसे महान् चरित्र की सृष्टि नहीं हो सकी है जो आस्था का प्रतीक है। लेकिन ऐसा जाना पड़ता है कि अश्वत्थामा आदि पात्रों के द्वारा इस दिशा में कवि ने प्रयत्न अवश्य किया था।"[4] डॉ० कुमार विमल ने अश्वत्थामा के चरित्र के विषय में अपना मत दिया—"केवल अश्वत्थामा का चरित्र मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है।"[5] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि, "अश्वत्थामा अपनी समस्त कुंठाओं के साथ जिस रूप में चित्रित किया गया है वह रूप बहुत ही शक्तिशाली एवं सजीव बन पड़ा है।"[6] लेखक की सहानुभूति बहुत दूर तक अश्वत्थामा के साथ ही दिखाई पड़ती है, युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य की मीमांसा ने लेखक की सहानुभूति का स्रोत अश्वत्थामा की ओर मोड़ दिया। वह 'अन्धा युग' की प्रायः सभी समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु है और दृश्य-काव्य के समापन तक उसका चरित्र बराबर निखरता गया है।"[7] 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर सर्वप्रथम अश्वत्थामा भग्न और खण्डित योद्धा के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। पिता की क्रूर और छल-युक्त हत्या और दुर्योधन की दीन-हीन स्थिति से विरक्त और खिन्न होकर विक्षुब्धता से वह धनुष को मरोड़ कर टुकड़े

1. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० गणेशदत्त गौड़ : पृष्ठ 362
2. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन : डा० गिरीश रस्तोगी : पृष्ठ 192
3. हिन्दी नाटक : डा० बच्चनसिंह : पृष्ठ 192
4. साहित्यिक निबन्ध : प्रतापनारायण टण्डन : पृष्ठ 622
5. अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य : डा० कुमार विमल : पृष्ठ 139
6. हिन्दी गीति नाट्य : कृष्ण सिंहल : पृष्ठ 124
7. हिन्दी नवलेखन : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृष्ठ 92

टुकड़े कर देता है। प्रतिशोध की अग्नि में झुलसता अश्वत्थामा भयावह होते हुए भी शक्तिहीन होता चला जाता है। उसके मस्तिष्क पर बार-बार पिता की क्रूरतापूर्ण निर्मम हत्या का चित्र बिजली की भाँति कौंध जाता है और वह अन्दर कहीं खोखला होता चला जाता है। अश्वत्थामा का चरित्र अपने आप में ध्वंसात्मक पीड़ादायक और एक उलझी हुई गुत्थी है। अश्वत्थामा के चरित्र-निर्माण के विषय में स्वयं भारती अपने निबंध-संकलन 'पश्यन्ती' में लिखते हैं—"इस बार ही नहीं अनेक बार ऐसा हुआ है। पात्र के बारे में पूरे नोट्स बना लीजिए, यहाँ तक कि घटनाक्रम और संवादों की विस्तृत रूप रेखा भी सोच लीजिए, लेकिन जहाँ लिखते-लिखते पात्र अपने व्यक्तित्व को उपलब्ध कर ले गया, वहीं वह आपके हाथ में नहीं रहता। फिर उसका चरित्र-विकास अपने आन्तरिक क्रम के अनुसार होता है और आपका बनाया तथा कागज पर लिखा हुआ सारा ढाँचा नाकाफी साबित होने लगता है। अश्वत्थामा के बारे में भी यही हुआ। जब 'अन्धा युग' के पूरे नोट्स बनाए थे और अंक प्रतिअंक उसकी रूपरेखा बनाई थी तब कृष्ण के सारे मूल्य-मर्यादा जाल को ध्वस्त करने का दायित्व गान्धारी पर था, लेकिन लिखते-लिखते गान्धारी शाप देकर कृष्ण के प्रति सहसा द्रवित हो गयी और विद्रोह तथा असहमति की कठिन भूमिका आगे आकर अश्वत्थामा ने सम्भाल ली।"[1]

पात्र-परिकल्पना में घृणा, त्रास, अन्तर्विरोध की जटिलता के कारण प्रतीकात्मकता का प्रवेश

महाभारत के पात्र अश्वत्थामा के चरित्र को लेखक ने एक समर्थ प्रतीकात्मक आधार दिया है। यह पात्र सांस्कृतिक धरातल पर भी अपने व्यक्तित्व का व्यापक प्रसार करता है। इस पात्र को नया रूप देने में लेखक को अपनी सर्जनात्मकता पर पर्याप्त संयम रखना पड़ा है। 'अश्वत्थामा का चरित्र खुद मेरे लिये एक पहेली हो गया था। उसके आन्तरिक विकास-क्रम में इतना प्रबल आवेग था कि मैं लिख डालता था और फिर काफी रात गए छत पर टहल-टहल कर सोचा करता था कि अब? अश्वत्थामा की घृणा, कटुता, आवेग, विक्षोभ—इन सब से मैं आविष्ट था। कहीं-कहीं आक्रान्त भी। मैं बहुधा सोचता रहता था कि इतना ध्वंसात्मक, इतना पीड़ादायक पात्र मेरी चेतना में कहाँ अवस्थित था और क्यों?"[2] युधिष्ठिर का असत्य से समझौता अश्वत्थामा के अन्दर समस्त मानवीय भावनाओं को निर्मूल कर उसे विध्वंस, घृणा और बर्बरता का प्रतिरूप बना देता है। वह स्वयं ही अपनी पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए अपने चरित्र पर प्रकाश डालती है। उसके स्वयं के ही शब्दों में—

1. पश्यन्ती : धर्मवीर भारती : पृष्ठ 13
2. वही : पृष्ठ वही

"मैं तुम्हारा यह अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक
जैसे रोगी मुर्दे के
मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ्
बासी थूक
शेष हूँ अभी तक मैं।"[1]

वह अपने नपुंसक और खण्डित अस्तित्व से विक्षुब्ध होकर आत्मघात पर उतर आता है—

"आत्मघात कर लूँ
इस नपुंसक अस्तित्व से
× × ×
इतनी यातना नहीं होगी"[2]

किन्तु अगले ही क्षण वह प्रतिशोध की दारुण-ज्वाला में सुलग कर तड़प उठता है और इसी भावना का सहारा लेकर वह ध्वंस और संहार का जीवन-सूत्र पकड़ लेता है। वह बर्बर और अमानुषिक पशु बन जाता है और अपना निर्णय देता है—

"किन्तु नहीं
जीवित रहूँगा मैं
अन्ध बर्बर पशु सा···
वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने
मेरे इस अस्तित्व का।"[3]

यहाँ एक प्रश्न ने फिर सिर उठा लिया—"इतनी घृणा, ध्वंस, इतना विक्षोभ आखिर क्यों? अश्वत्थामा ऐसा क्यों होता गया अपने आप मेरे लिखते-लिखते?"[4] इसका उत्तर देने के लिए भारती अतीत का पृष्ठ पलटते हैं—"इसका जवाब मुझे जिस दिन मिला, वह मुझे याद है। अपने मित्र फादर ऐक्ट्रास से घण्टों बातें होती थीं। इन तमाम सवालों को लेकर सार्त्र का विकल्प और अस्तित्ववाद, वैष्णवता, कैथोलिक मानववाद, हमारा वर्तमान भारतीय बौद्धिक विघटन और बात चलते-चलते जाने कहाँ आयी कि मुझसे घोर असहमत होते हुए वे बोले—"तुम कभी-कभी अश्वत्थामा की

1. आन्धा युग : भारती : पृष्ठ 35
2. वही : पृष्ठ 35
3. वही : पृष्ठ 36
4. पश्यन्ती : भारती : पृष्ठ 16

तरह बोलने लगते हो।" फिर जब हम लोग टहलते-टहलते गिरजे के बगल में बर्वीना की नीली क्यारियों के पास पहुँचे तो एक बेंच पर बैठ गये और कहने लगे, "घृणा का भी एक औचित्य है। जानते हो हमारे यहाँ कहा जाता है—"Hatred is the best apprenticeship to love घृणा प्रेम का पूर्वाभ्यास है।" तो क्या यह अश्वत्थामा की घृणा का एक और आयाम है।"[1] अन्तस की मनुष्यता नष्ट हो जाने पर अश्वत्थामा के किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और उत्तेजनाजन्य पशुत्व की सक्रियता दोनों को भारती ने एक साथ प्रस्तुत किया। परिस्थितियों ने उसे उस बिन्दु पर पहुँचा दिया कि न चाहते हुए भी उसे किसी की गर्दन मरोड़ देने की इच्छा होती है। चाहे वह तटस्थ (संजय) ही क्यों न हो। हिंसा का सम्बन्ध यहाँ आकर अर्थ से टूट जाता है और अब हिंसा उसकी आदत बन जाती है। युद्ध का सही अर्थ समाप्त हो जाता है और मात्र हिंसा का प्रयोग बन जाता है। इस परिस्थिति में अश्वत्थामा अचेतनता और विक्षिप्तता दोनों को एक साथ झेलता है। उसके मस्तिष्क में एक जटिल मनोग्रंथि बन जाती है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह उन्माद की चरम सीमा को भी पार कर जाता है। वध उसका धर्म बन जाता है। कभी वह कहता है—"मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे वह गला युधिष्ठिर का, जिससे निकला था अश्वत्थामा हतोः हत:"[2] और कभी वृद्ध की हत्या कर कहता है—'मैंने नहीं मारा उसे—मातुल विश्वास करो।'[3] उसका व्यक्तित्व स्थिर नहीं रहता। 'शठे शाठ्यं समाचरेत' नीति पर चलता हुआ अश्वत्थामा अधर्म का उत्तर अधर्म से ही देने का निश्चय कर पाण्डवों का हनन करने की प्रतिज्ञा करता है—

> "वे भी निश्चय ही मारे जाएँगे अधर्म से
> सोच लिया
>
> × ×
>
> मैं अश्वत्थामा
> उन नीचों को मारूँगा।"[4]

उसकी घायल आत्मा, तड़पती वाणी उसे प्रतिशोध की ओर प्रेरित करती है। अपने वचन का दृढ़ता से पालन करने वाला अश्वत्थामा दुर्योधन को दिया अपना वचन और प्रतिज्ञा निभाता है। कृतवर्मा के समक्ष वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को दोहराता है—

> "सुनते हो कृतवर्मा
> कल तक मैं लूँगा प्रतिशोध

1. पश्यन्ती : भारती : पृष्ठ 16
2. अन्धा युग : वही : पृष्ठ 37
3. वही : पृष्ठ 45
4. वही : पृष्ठ 62

सेना यदि छोड़ जाय
तब भी अकेला मैं......"[1]

उसकी रक्त से सनी घृणा चरम त्रास और भयानकता का वातावरण उपस्थित कर देती है। वह अमानुषिकता से भयंकर नरसंहार का संचालन कर उसकी केन्द्रीय धुरी बनता है, पाण्डव-शिविरों को अग्नि की लपटों में झोंक देता है, स्त्रियों को हाथियों से निर्ममतापूर्वक कुचलवा देता है और धृष्ट-द्युम्न की हत्या करने में अपनी घृणा की चरम परिणिति कर देता है। यातना से तड़पा-तड़पा कर उसका घूँसों से ही हनन करता है। संजय उसे भयंकर कुरूप की संज्ञा देता है किन्तु गान्धारी उसे वीरता का शृंगार मानती है। उसको अभिव्यक्त प्रतिशोधी मन दुर्योधन के समक्ष भयंकर प्रतिशोध की निर्मम ध्वनि उच्चरित करता है—

'किन्तु अब भी उसका प्रतिशोध नहीं ले पाया
शेष है अभी भी,
सुरक्षित है उत्तरा
जन्म देगी जो पाण्डव-उत्तराधिकारी को
किन्तु स्वामी
अपना कार्य पूरा करूँगा मैं।"[2]

वह घृणा का पुंजीभूत रूप होने पर भी शंकर का भक्त, प्रचण्ड पराक्रमी है। दैत्याकार शंकर से युद्ध के पश्चात् पहचान कर उनकी नम्र होकर स्तुतिजन्य अर्चना करता है। ब्रह्मास्त्र का प्रयोक्ता होने पर भी वल्कल धारण करने की इच्छा करता है किन्तु अर्जुन के वाण-प्रहार से उसका स्वाभिमान तड़प उठता है और वह तन कर उसके समक्ष स्थिर हो जाता है और विवशता की सीमा का उल्लंघन होने पर अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र छोड़ देता है जिसका उसे उपसंहार भी करना नहीं आता—

"मैंने सोचा था
वल्कल धारण कर रहूँगा तपोवन में
× ×
पूरे पाण्डव वंश को
निर्मूल किए बिना शायद
युद्ध लिप्सा
नहीं शान्त होगी कृष्ण की
× ×
विवश किया है अर्जुन ने
यह है ब्रह्मास्त्र।'[3]

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 67
2. वही : पृष्ठ 84-85
3. वही : पृष्ठ 91-92

अश्वत्थामा एक पराक्रमी योद्धा की भांति निर्भीक, निडर और स्पष्टवादी है। कृष्ण की स्तुति उसे झूठी आडम्बरयुक्त लगती है और वह स्पष्ट करते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता—

> "झूठे हैं ये स्तुतिवचन, ये प्रशंसा वाक्य,
> कृष्ण ने किया है वही,
> मैंने किया था जो पाण्डव शिविर में...।"[1]

आगे वह पराक्रमी योद्धा होने का परिचय देता है। वह सद्गुणों की सम्मान के कणों से, साधुवाद की आरती से अर्चना करता है चाहे वह शत्रु के ही क्यों न हों। 'शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' नीति पर चलता हुआ अपने विपक्षी परम शत्रु कृष्ण की प्रशंसा करने में भी अपनी स्पष्टवादिता का त्याग नहीं करता और धैर्यपूर्वक उसके लिए प्रशंसायुक्त अपने भावों को स्पष्ट व्यक्त करता है—

> "कायर मरण ?
> मेरा था शत्रु वह
> लेकिन कहूँगा मैं
> दिव्य शान्ति छाई हुई थी
> उसके स्वर्ण मस्तक पर।"[2]

अश्वत्थामा अपने आपको अमानुषिक और मानव-भविष्य की रक्षा करने में अक्षम की संज्ञा देते हुए भी अन्त में आत्मान्वेषी और आत्मदर्शी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है—

> "किन्तु मैं हूँ अमानुषिक अर्द्धसत्य
> तर्क जिसका है घृणा और स्तर पशुओं का है।"[3]
> × × ×

इसी तरह— "मैं हूँ अमानुषिक।"[4]

अश्वत्थामा के चरित्र के विषय में यही कह सकते हैं कि—"...अश्वत्थामा जैसे शक्तिशाली पात्र की सृष्टि...के कारण 'अन्धा युग' हिन्दी गीति-नाट्य साहित्य की एक विशिष्ट कृति बन गयी है।"[5] अन्ततः यही कहना होगा कि अश्वत्थामा जैसे चरित्र की सृष्टि 'भारती' की एक निजी और अन्यतम उपलब्धि है।

'भारती' ने अपनी स्वाभाविक मनोशास्त्रीय दृष्टि की कसौटी पर पात्रों को ऐसे कणों से सृजित किया है जो मानव-व्यक्तित्व की मूलभूत भिन्नताओं को सशक्त वाणी देते हैं। युग के विश्लेषण को यहाँ उद्धृत किया जाए तो मानव-व्यक्तित्व को

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 120
2. वही : पृष्ठ 127
3. वही : पृष्ठ 125
4. वही ; पृष्ठ 128
5. हिन्दी गीति नाट्य : कृष्ण सिहल : पृष्ठ 125

मूलतः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये दो श्रेणियाँ हैं—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। इन्हीं दोनों श्रेणियों को युग ने आगे चार उपविभागों में बाँटा जो मानव-मन की चार कारण शक्तियों (चिन्तन, अनुभव, प्रेरणा एवं संवेदन) की ओर संकेत करते हैं। इन चार शक्तियों को युग ने जिन शाब्दिक रेखाओं से चित्रमय बनाकर उपस्थित किया, उससे 'अंधा युग' के चार प्रमुख पात्रों—धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर एवं संजय के व्यक्तित्व को तुलनात्मक कसौटी पर परखना अत्यन्त मनोरंजन का विषय होगा। आन्तरिक एवं बाह्य यथार्थ के परिपेक्ष्य में धृतराष्ट्र का जो दृष्टि-कोण मुखर है, वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ऐतिहासिक सत्य के रूप में देखा जाए तो धृतराष्ट्र जन्मान्ध था किन्तु उक्त स्थल पर वह हमारे कथन को पुष्ट करता है कि वह अपने रूप में एक ऐसे पात्र को प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित करता है जिसका चरित्र अन्तर्मुखी सम्वेदन से निर्मित हुआ है। वस्तुजगत् की सीमाएँ धृतराष्ट्र के लिए उतनी ही थीं जितना वह उस वस्तुजगत् को अपनी वैयक्तिक सम्वेदन-शक्ति के द्वारा जान सकता था, उसकी नैतिकता के स्थिरीकरण के लिए उसका कोई बाह्य मापदण्ड नहीं था, अपनी मांसलता से उत्पन्न कौरवों को ही वह अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकारता था, उसकी नैतिकता की सीमाएँ कौरवों के अन्दर ही समाहित थीं, उसकी स्वार्थान्ध ममता कौरवों में ही नीति के रूप में चरम परिणति पाती थी। यथार्थ से उसके सम्बन्ध-सूत्र शब्दगत थे, चित्रगत आकार उसकी दृष्टि से नितान्त निरपेक्ष था। अन्तर्मुख सम्वेदन के सम्बन्ध में युग की विचारधारा द्रष्टव्य है—'अन्तर्मुख दृष्टि-कोण में संवेदन निश्चय ही सविकल्प ज्ञान के आत्मपरक अंश पर आधारित रहता है। आत्मपरक अंश का प्रभुत्व बहुधा वस्तुजगत के प्रभाव का पूर्ण शमन कर लेता है···वस्तुजगत् का प्रभाव आत्मपरक दिशा के स्तर में विलीन हो जाता है। अन्तर्मुख संवेदन एक ऐसा बिम्ब प्रस्तुत करता है जिसका प्रभाव बाह्य वस्तु का प्रतिमूर्तिकरण न होकर उस पर आवरण आच्छादित करना होता है।"[1] धृतराष्ट्र के मस्तिष्क में जगत के यथार्थ की धुंधली-सी चेतना की रेखाएँ तब अंगड़ाई लेती हैं, जब उसके अनुशासन का सूर्य अन्तिम प्रहर की घड़ियों में निशा के अन्ध गर्भ में जाकर छुप रहा

"In the introverted attitude sensation is definitly based upon the subjective portion of perception...The ascendency of the subjective factor accasionaly achieves a complete supression of the mere influence of the object...the effect of the object was sunk to the level of mere subjective direction...Introverted sensation conveys an image whose effect is not so much to produce the object as to throw over it a wrapping...".

—C. G. Jung : Psychological Types : pp. 498-500
—सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 160

था तो प्रारम्भ में भीष्म, गुरु द्रोण तथा कृष्ण की चेतावनी उसके मानस-पटल पर अंकित हो जाती है—

"मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी गुंजलिका में कौरव वंश को
लपेट कर सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।"[1]

धृतराष्ट्र उसे महत्व की रेखाओं से बाँध ही न सके क्योंकि उनकी अन्तर्मुखी सम्वेदनशीलता बाह्य यथार्थ अथवा सामाजिक मर्यादा को ग्राह्य कर पचाने में असमर्थ थी। उस मनःस्थिति का शब्दचित्र युंग सफलता से चित्रित करता है —"यद्यपि उसकी तुलनात्मक निर्णय-सम्बन्धी न्यूनता उसे इस तथ्य से पूर्णतः अनवगत रखती है तथापि उसका विकास उसे वस्तुजगत की वास्तविकता से पृथक कर आत्मपरक सविकल्प ज्ञान के हाथों सौंप देती है। यह आत्मपरक सविकल्प ज्ञान उसकी चेतना को आदिम वास्तविकतानुसार पुनर्गठित करती है। वह इस प्रकार निर्णय और कार्य करता है मानो उसमें ऐसे कार्य करने की शक्ति हो परन्तु उसे यह कमी तब ज्ञात होती है जब उसे यह अनुभव होता है कि उसके इन्द्रिय-जन्य ज्ञान वास्तविकता से पूर्णतः भिन्न हैं। यदि इसकी प्रवृत्ति वस्तुनिष्ठ रीति से तर्क करने की हो तब तो उस भिन्नता को वह रुग्ण रूप में अनुभव करेगा परन्तु दूसरी ओर यदि वह अपनी असंगति में ही आस्था बनाये रखता है और अपने इन्द्रिय जन्य ज्ञान को वास्तविक महत्व देना चाहता है तो वस्तु जगत् उसे अनुमानित और हास्यास्पद प्रतीत होगा।"[2] रुग्णता की रेखाओं से सर्वथा यदि चरित्र नहीं जकड़ा हुआ है तो यथार्थ के प्रति वह

1. अन्धा युग : भारती : पृ० 17
2. "His development entranges him from reality of the object, handing him over to his subjective perception, which orientate his consciousness in accordence with the archaic reality, although his deficiency in comparative judgement keeps him wholly unaware of this fact. He judges and acts as though he had such powers to deal with, but it begins to strike him only when he discovers that his sensations are totally different from reality and if his tendency is to reason objectively, he will sense this difference as morbid, but if on the other hand, he remains faithful to his irrationality and is prepared to grant his sensation reality value, the objective world will appear a make belief a comedy."

—C.G. Jung : Psychological Types : pp. 503-504

—सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 161

चरित्र उस भ्रान्त दृष्टिकोण को निर्मूल कर उससे उबरता है। स्वस्थ वस्तुगत चिन्तन उसको उसके अन्ध-गह्वर से बाहर निकाल कर उसको विशाल जगत् से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने की प्रेरणा देता है। लौकिक धरातल पर जब धृतराष्ट्र पराजय का आलिंगन करता है उस स्थिति में उसे आभासित होता है कि सत्य का आधार उसकी वैयक्तिक सीमाओं की रेखाओं के अन्दर ही नहीं बाहर भी है। अन्तर्मुख-प्रेरणा प्रधान व्यक्तित्व को विश्लेषित करते हुए युंग ने लिखा है—"उसके सम्बन्ध में बहिर्मुखी दृष्टिकोण का यही कहना होगा कि वास्तविकता का उसके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह निष्फल बिम्ब-निर्माण प्रवृत्ति के वशीभूत हो जाता है। अन्तर्मुखी प्रेरणा, अन्तर्ज्ञान से प्राप्त उन बिम्बों को ग्रहण करती है जो स्वत: चेतन मन के जातिगत आधारों से उत्पन्न हुए हैं।"[1] गान्धारी का चरित्र भी उपरोक्त व्यक्तित्व को सशक्त वाणी देता है। गान्धारी का दृढ़ विश्वास है कि हमारे अवचेतन मन के अन्ध-गह्वर में एक अन्धा एवं बर्बर पशु निवास करता है जिसके हाथ में हमारे विवेक की सत्ता है, उससे यही ध्वनित होता है कि गान्धारी का चरित्र अब भी अचेतन मन की गहन पकड़ से ग्रसित है। ऐसे ही चरित्र की व्याख्या करता हुआ युंग लिखता है—"स्वभावत: ही प्रेरणा की तीव्रता बहुधा व्यक्ति को वास्तविकता से असाधारण रूप में पृथक कर देती है। व्यक्ति अपने मित्रों के लिए पहेली हो जाता है। अत: वह अपने आदर्शदर्शनों में ही तन्मय रहता है। अत: उसके नैतिक प्रयत्न एकांगी हो जाते हैं। वह अपने तथा अपने जीवन को प्रतीकात्मक बना लेता है परन्तु वास्तविकता के लिए वह अनुपयुक्त और अज्ञेय बन जाता है।"[2] गान्धारी नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण को अन्ध मनोवृत्तियों की संज्ञा देती है जो सामाजिक रूप को स्वीकारने के लिए झूठे आडम्बर मात्र

1. "The extraverted stand point would say of him reality has no existense for him, he gives himself upto fruitless phantasies... Introverted intutions apprehend images which arise from apriori, i.e. the inherited foundation of the unconscious mind."

   —C.G. Jung : Psychological Types : p. 507

   —सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 162

2. "Intensification of intuitions naturally often result in an extraordinary, aloofness of the individual from the tangible reality, he may even become a complete enigma to his immediate circle. Since he tends to rely exclusively upon his vision, his moral efforts become onesided, he makes himself and his life symbolic...but unadapted to reality...he remains unintelligible...."

   —C.G. Jung : Psychological Types : p. 508. 510

   —वही : वही : पृष्ठ 162

के सिवा कुछ नहीं। मिथ्याडम्बरों से ग्रसित प्रधान नैतिकतावादी जगत् से गान्धारी को घृणा थी जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने चक्षुपटल पर पट्टियाँ चढ़ाकर अन्धता को स्वीकृति दी। इस प्रकार के रुग्ण-चरित्र से उत्पन्न होने वाली संभव मनोविकृतियों की चर्चा करते हुए युंग अपनी विचारधारा को व्यंजित करता है—"स्नायविक प्रसाद एक प्रकार से 'बाह्य स्नायविक प्रमाद-स्थिति' है जो ऐसे लक्षण व्यक्त करती है जो आंशिक रूप से व्यक्ति-विशेष अथवा वस्तु से विवशतापूर्ण सम्बन्ध प्रकट करती है।"[1] स्पष्टतः यह सभी विशेषताएँ हम गान्धारी के चरित्र में खोज सकते हैं। अन्धता से ग्रसित पुत्रों के प्रति असीम ममता, सीमातीत उत्तेजनशीलता, कटुता के तीव्र आवेश के वशीभूत होकर कृष्ण को घोर शाप देना तत्पश्चात् संवेदनशील हो आँखों से पश्चाताप के मोती बरसाना युंग द्वारा अंकित अन्तर्मुख प्रेरणा-प्रधान चरित्र से साम्य रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी विशेष रूप से दृष्टिगत होना चाहिए कि युंग की यह स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि अन्तर्मुख प्रेरणा प्रधान चरित्र की उपलब्धि प्रायः नारी जाति में ही होती है।

विदुर को युंगीय दृष्टि के दर्पण में प्रतिबिम्बित करें तो वह अन्तर्मुख अनुभवन (फीलिंग) प्रधान चरित्र की कसौटी पर खरा उतरता है। यहाँ संजय की तटस्थता का प्रश्न उभर सकता है किन्तु हम पूरे दृश्य-काव्य को तथा प्रथम अंक को विश्लेषित करें तो निष्कर्षतः तटस्थता संजय की उद्घोषित प्रवृत्ति होते हुए भी विदुर बाह्य जीवन में संजय से किसी सीमा पर अधिक निर्लिप्त दृष्टिगोचर होता है। कौरव-पक्ष की अनैतिकता और धृतराष्ट्र के विवेकशून्य अन्ध-निर्णयों, दोनों को ही प्रहारों की व्यंग्यमय चोटों से उद्वेलित करता हुआ विदुर का वार्तालाप प्रथम अंक में ही अनेक विवादास्पद प्रश्नों को वाणी देकर भी एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति उदासीन और निरपेक्ष रहता है। अपने प्रभु के प्रति माता गान्धारी की आक्रोशमय तीव्र कटुता भी विदुर को विचलित नहीं कर पाती। यह स्थिति भी विदुर में रोष के भावों को न जागृत कर एक उच्च उदात्तमयी करुणा की भूमि पर अधिष्ठित करती है। विदुर के शब्द यही व्यंजना देते हैं—

> "यह कटु निराशा की
> उद्धत अनास्था है

1. "The form of neurosis is a compulsion neurosis exibiting symptoms that are partly hypochondrical manifestations. Partly hyper seasitivity of the sense organs and partly compulsiveties to definit persons or objects."

—C.G. Jung : Psychological Types : p. 210

--- सृजन के आयाम : रामप्रसाद केताब : पृष्ठ 163

क्षमा करो प्रभु !
चरणों में स्वीकार करो।"[1]

नीतिकुशल विदुर कौरवों का अनुसरण करते हुए भी पाण्डवों के प्रति अपने अन्दर स्नेहभाव लिए कृष्ण को अपनी भक्ति-भावना से अलंकृत करता है। वह धृतराष्ट्र का सेवक भी है, फिर भी उसके चरित्र को भारती की कलम ने कुछ ऐसी व्यवस्थित रेखाओं के साँचे में ढाला है कि तत्कालीन जीवन का द्वैत किसी भी परिस्थिति में उसके असंतुलन का कारण नहीं बनता। युंग लिखता है—"ऐसी किसी वस्तु की उपस्थिति में जो किसी को भावनाओं में बहा ले जाय या उत्साह की उत्तेजना उत्पन्न करे, इस प्रकार की चेतना उदार तटस्थता बनाये रहती है, जो कभी-कभी एक उच्च स्तर की भावना और आलोचना से भी सिक्त रहती है जो क्षिप्रग्राही वस्तु को नैराश्यपूर्ण या निष्फल बना देती है। उत्कृष्ट मनोवेग उदासीनता के साथ अस्वीकृत कर दिये जाते हैं।"[2] महाभारत की घटना विदुर को नवीन अनुभूति प्रदान करती है यद्यपि वाह्य जीवन से सम्पर्थित रह कर अपने आप को यथार्थ से संस्कृत करते रहना उसका स्वभाव है। वह अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

"मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह है
जिसके सारे पहिये उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती।"[3]

परम्परागत शास्त्रीय नैतिकता को स्वर देता हुआ विदुर यह ज्ञान प्राप्त करने पर भी कहता है—"संशय पाप है और पाप मैं करना नहीं चाहता।"[4] विदुर का यह प्रयास उस स्वर की सत्यता आभासित करने का प्रयत्न मात्र है। वह स्वीकार करता है कि उसकी नीति साधारण स्तर की है और युग की सभी परिस्थितियाँ असाधारण हैं। इतना होने पर भी वह अपनी पूर्व निश्चित नैतिकता के मानदण्डों को नहीं त्याग

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 22
2. In the presense of something that might carry one away or arouse enthusiasm, this type observes a benevolent neutrality tempered with an occasional trace of superiority and criticism that soon takes the wind out of the sails of a sensitive object. A stormy emotion will be brusquely rejected with murderous coldness."

—C.G. Jung : Psychological Types

—सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 164
3. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 74
4. वही : पृष्ठ 74

सकता। "उसका लक्ष्य वस्तुगत तथ्यों से समझौता न करना होकर उनसे उच्च स्थिति में बने रहना है क्योंकि उसके सम्पूर्ण अचेतन प्रयत्न अन्त:स्थिति बिम्बों को वास्तविकता प्रदान करने के लिए होते हैं, मानों वह ऐसे बिम्ब की निरन्तर खोज कर रहा है जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता किन्तु जिसका उसे एक प्रकार का पूर्वाभास रहता है।"[1] "अहं भावना की उत्कट तीव्रता से अतृप्त उत्कंठा का जन्म होता है जो केवल अपना ही अनुभव करती है, यह रहस्यमय परमानन्दावस्था है।"[2]

युंग की शब्दावली रूपी रेखाओं से संजय के चरित्र को यदि बाँधें तो उसके चरित्र को अंतर्मुख चिंतनप्रधान चरित्र की संज्ञा देनी पड़ेगी। युंग इस प्रकार के चरित्र का रेखाचित्र इस प्रकार खींचता है, "बाह्य तथ्य इस विचारणा का ध्येय और स्रोत नहीं हैं, यद्यपि अन्तर्मुख व्यक्ति बहुधा उसे उसी रूप में प्रदर्शित करना चाहता है। यह तो आत्मपरक स्थिति में ही प्रत्यावर्तित हो जाता है। चाहे वह वास्तव और यथार्थ के क्षेत्र में कितनी ही ऊँची उड़ान क्यों न ले।"[3] संजय की तटस्थता को हम मात्र स्थितिजन्य ही नहीं कह सकते वरन् उस तटस्थता में उसके मानसिक संगठन की स्वाभाविक परिणति भी द्रष्टव्य है। वह अपने आप को कर्मलोक से बहिष्कृत स्वीकार करता है। वह अपने आपको दो पहियों के मध्य लगे हुए उस शोभाचक्र की संज्ञा देता है जो धरा को भी स्पर्श नहीं कर पाता। यदि दूसरे शब्दों में विश्लेषण किया जाए तो उसकी तटस्थता यथार्थ से कोई दृढ़ सम्बन्ध सूत्रों की व्याख्या नहीं करती। अन्त में एक सीमा पर आकर संजय को अनुभवजन्य ज्ञान का आभास होता है कि उसके

1. "Its aim is not so much to accomodate to the objective facts as to stand above it, since its whole unconscious effort is to give reality to the under lying images. It is as it were continually seeking an image which has no existence in reality, but of which it has a sort of previous vision.''
   C. G. Jung Psychological Types : p. 490
   —सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 165

2. "The intensification of egocentric feeling only leads to contentless passionatness, which feels itself. This is the mystical, ecstatic stage." Ibid., p. 491
   —वही : पृष्ठ 166

3. "The external facts are not the aim and origin of this thinking although the introvert would often like to make it appear so. It begins with the subject and returns to the subject, although it may undertake the wildest heights into the territory of the real and actual."
   C. G. Jung ; Psychological Types : pp. 480-481.
   —सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान ; पृ० 165

जीवन का अर्थ ही लुप्त होता जा रहा है। जीवन के यथार्थ से सम्यक् सम्बन्धों की स्थापना का अभाव अन्तर्मुख चिन्तन प्रधान व्यक्ति को प्रायः ऐसी ही मनःस्थिति में ले जाता है। 'अंधा युग' की समस्या की मूल धुरी को संजय अपने शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

"आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी सत्य की।"[1]

आधुनिक मनोशास्त्री युंग ने मानव की समग्र चेतना को एक गतिशील वास्तविकता स्वीकार कर मानव-मन में चार करण शक्तियों को स्वीकृति दी—(1) चिन्तन, (2) अनुभवन, (3) संवेदन और (4) प्रेरण। युंग के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में अनिवार्यतः एक करणशक्ति प्रमुख एवं चेतन रूप से विद्यमान रहती है। दूसरी करण-शक्ति उसके विलोम स्वभाव के कारण, अविकसित अवस्था के रूप में अवचेतन में विद्यमान रहती है। शेष दो करण-शक्तियाँ प्रमुख करण-शक्ति को सहयोग प्रदान करने के लिए कुछ निम्न स्तर पर सदा ही विद्यमान रहती हैं। धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर और संजय क्रमशः इन्हीं चार संवेदन, प्रेरण, चिन्तन तथा अनुभवन करण-शक्तियों के प्रतीक स्वीकार किए जा सकते हैं।

युगपुरुष व युगप्रभु सबके योग क्षेम के वहनकर्ता, सबके उत्तरदायित्वों के केन्द्रबिन्दु कृष्ण का चरित्र वैविध्यपूर्ण है। इतिहास का एक अंग होते हुए भी व्यक्ति उसका निर्माता और नियामक है और 'अन्धा युग' के श्रीकृष्ण के प्रभु का स्वरूप इसीलिए अक्षुण्ण है कि वे इतिहास के नियामक और मानव-नियति हैं, जिसका निर्माण वे स्वतः ही कर सकते हैं। कृष्ण के चरित्र की रेखाएँ गीता के प्रभाव से बहुत कुछ आलोकित हैं, पर मानवतावादी धरातल पर उस महापुरुष के चरित्र की सर्जना सर्वथा भारती की अपनी मौलिक प्रतिभा की देन है। कृष्ण का चरित्र दो धरातलों में ढलकर चलता है। एक ओर यदि उसमें भावुक रहस्यवादिता अन्तर्हित है तो दूसरी ओर उसकी नितान्त धर्मनिरपेक्ष व्याख्या की अवहेलना नहीं की जा सकती, पर इसके परिप्रेक्ष्य में यह विचार संशय की सीमाओं से परे है कि उसकी मौलिक भावभूमि बौद्धिक है। कवि की अजेय और अटूट आस्था सुदृढ़ मानवतावाद पर स्थित है। ये कवि के ऐसे मानदण्ड हैं जिसके समक्ष अश्वत्थामा और युयुत्सु जैसे सशक्त चरित्रों को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। 'अंधा युग' में श्रीकृष्ण का चरित्र विरोधी प्रवृत्तियों को समंजित करते हुए चलता है। दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और ईश्वर के रूप में चित्रित करने के उपरान्त भी कृष्ण के विषय में पात्रों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं, बलराम उन्हें 'कूटबुद्धि' कहकर उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हैं—

"जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा ही मर्यादाहीन कूटबुद्धि।"[2]

1. अन्धायुग : भारती : पृष्ठ 30
2. वही : पृष्ठ 81

भीम द्वारा दुर्योधन को अधर्मवार से मारने की प्रेरणा देने वाले कृष्ण को अश्वत्थामा और गान्धारी अन्यायी की संज्ञा से विभूषित करते हैं—"अन्यायी कृष्ण इसके बाद अश्वत्थामा को जीवित नहीं छोड़ेंगे"[1] और "मैं था अकेला और अन्यायी कृष्ण पाण्डवों सहित···।"[2] इसी प्रकार गान्धारी कृष्ण पर प्रभुता के दुरुपयोग का खुला आरोप लगाती हुई कहती है—

"इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को,
तुमने किया प्रभुता का दुरुपयोग"[3]

विदुर कृष्ण को प्रभु कहते हैं—"क्षमा करो प्रभु···।" किन्तु गान्धारी कृष्ण को वंचक कहने में भी नहीं हिचकिचाती—

"जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने हित में बदल लिया, वंचक है।"[4]

इस कर्मयोगी की शक्ति और क्षमता की दैवी गति इतनी प्रबल है कि उनकी इतिहास को अनासक्त होकर दी गई चुनौती से नक्षत्रों की दिशाओं में भी परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगती है। याचक के शब्द यही ध्वनित करते हैं—

"किन्तु उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौति देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।"[5]

कृष्ण के व्यक्तित्व का आकर्षण द्वेध है एक ओर···"अर्जुन, उठाओ शस्त्र"···निष्क्रियता नहीं···अर्जुन को उपदेश देते दिखाई देते हैं। दूसरी ओर उनकी प्रबलविरोधीनी गान्धारी की उनके प्रति ममता भी कम महत्वपूर्ण नहीं····"लेकिन कृष्ण तुम पर मेरी ममता अगाध है।"[6] नाटक के प्रारम्भ में ही कृष्ण को दिव्य आदर्शों की प्रतिमूर्ति मर्यादा-रक्षक की संज्ञा से अलंकृत किया गया है। मर्यादा की पतली डोरी को सुलझाने वाला एकमात्र अनासक्त, निर्विकार, निर्लेप, कृष्ण को ही कहा गया। प्रेतात्मा वृद्ध याचक उनके रथ की गति को इसीलिए नहीं बाँध पाता कि वह शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव

1. अन्धायुग : भारती : पृष्ठ 92
2. वही : पृष्ठ 99
3. वही : पृष्ठ 22
4. वही : पृष्ठ 24
5. वही : पृष्ठ 41
6. वही : पृष्ठ 101

और मर्यादा के शान्तिदूत रक्षक हैं—

"नहीं, उनमें सारे समय के प्रवाह की मर्यादा बँध पाती है।
बांध नहीं सकता हूं उसको मैं।"[1]

वह आवेश और आक्रोश से परिचालित क्रुद्ध, विक्षुब्ध गान्धारी के अभिशाप देने पर भी वे मर्यादा का सीमोल्लंघन नहीं करते। सदैव की भाँति गान्धारी का सम्मान करते हुए शीलवान और गम्भीर बने समस्त वंश के उन्मूलन का कटु शाप सुनकर भी ये माता गान्धारी के समक्ष उसे स्वीकार कर मात्र इतना कहते हुए :

"माता प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो
....
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।"[2]

अपनी मर्यादा का परिचय देते हैं। कवि ने उपरोक्त प्रसंग को भक्ति-भाव के कणों से चित्रित किया किन्तु युयुत्सु कृष्ण को कायर, वंचक, शक्तिहीन बताते हुए उसे शाप के वशीभूत होकर कृष्ण द्वारा मृत्यु का नाटक रचने की संज्ञा देता है—

"जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बाँधना हमको...
वंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह..."[3]

वास्तव में भगवान कृष्ण का चरित्र सबसे अधिक रहस्यमय प्रतीत होता है। अप्रत्यक्ष रूप से सब जगह विद्यमान रहते हुए भी वह प्रत्यक्षतः रंगमंच पर उपस्थित नहीं होता। कृष्ण के चरित्र में यहाँ युंग की 'सेल्फ' की धारणा का आभास दृष्टिगत होता है। युंग के मतानुसार मानवमन की चार करण-शक्तियों में अवचेतन करण-शक्ति 'सेल्फ' के समीपस्थ है। विरोधी पक्ष की होते हुए भी गान्धारी इसी रूप में कृष्ण को आवेश में शाप देकर शान्ति का वरदान नहीं पा पाती—

"रोयी नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
× ×
मैं थी निराश, मैं कटु थी
पुत्रहीना थी।"[4]

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 75
2. वही : पृष्ठ 100, 124
3. वही : पृष्ठ 124
4. वही : पृष्ठ 101

विकसित करण-शक्ति की और अन्य दो करण-शक्तियों को तुलनात्मक विवेचना की कसौटी पर परखा जाए तो विकसित करण-शक्ति अन्य दो करण-शक्तियों की अपेक्षा 'सेल्फ' के अधिक निकट होती है और इसी प्रकार धृतराष्ट्र के पक्षधर होकर भी संजय और विदुर कृष्ण के भक्त और अनुयायी हैं। पीछे हम अंकित कर आए हैं कि कृष्ण का चरित्र अन्य पात्रों की तुलना में सबसे अधिक रहस्यमय रेखाओं से बँधा हुआ है। कृष्ण मानव-मन की सामान्य-द्वैत गतियों से मुक्त होने के कारण सुख-दुःख दोनों को एक समान धरातल पर धारण कर, सब की वेदना भोगते हुए भी अनासक्त रहते हैं—

"अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं मरा हूँ करोड़ों बार

× × ×

जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ, माँ...।"[1]

युंग अपनी 'सेल्फ' की धारणा को स्पष्टतः व्यंजित करता हुआ अपनी शब्दावली देता है—"सेल्फ आत्मचेतना का केवल मध्य बिन्दु ही नहीं है वरन् परिधि भी है जो चेतन और और अचेतन दोनों को अपने में समेट लेता है। जिस प्रकार अहं चेतना का मूल-केन्द्रबिन्दु है, उसी प्रकार यह समग्र चेतना का केन्द्र-बिन्दु है।"[2] इसकी उपलब्धि अन्तर एवं बहिर्जगत के द्वन्द्वों की परिपूर्ति 'कम्पनेशन' है।[3] युंग के मतानुसार व्यक्ति की समग्र चेतना का अह्मयेतर केन्द्र बिन्दु 'सेल्फ' है, जहाँ मानव-चेतना के अहं की द्वन्द्वशील प्रवृत्तियाँ अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखती हुई अपनी प्रतिस्पर्धी द्वन्द्वात्मकता को संयम की रेखाओं से बाँधकर रखता है। इस प्रसंग की विवेचना में युँग लिखता है—"महानतम और महत्वपूर्ण समस्याएँ ऐसी हैं जिनका समाधान नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि वे प्रत्येक आत्मनियन्त्रणशील व्यवस्था की आन्तरिक द्वैतता की अभिव्यक्ति करती है उन्हें सुलझाया नहीं जा सकता वरन् उनका अतिक्रमण किया जा सकता है ...व्यक्ति की वैयक्तिक समस्याओं की यह अतिक्रमणता चेतन स्तर को उच्च अथवा अधिक गहन करने के रूप में अपने को व्यक्त करती है। इसके द्वारा बहुत उच्च और विस्तृत अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है और इस क्षितिज विस्तार से न

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 100
2. "The self is not only the mid-point but also the circumference taking in the conscious and the unconscious, it is the centre of psychic totality, as the ego is the centre of consciousness."
—The Psychology of Jung : J. Jacobi, p. 123
—सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 169
3. Integration of Personality : Jung : p. 96
—वही : पृष्ठ 169

सुलझने वाली समस्याओं की उत्कटता समाप्त हो जाती है। अपने स्वाभाविक रूप में तार्किक दृष्टि से उनका समाधान नहीं प्राप्त होता वरन् एक नवीन प्रबल निर्देश के सम्मुख वे मंद पड़ जाती हैं। वे दमित होकर अचेतन में नहीं चली जातीं बल्कि भिन्न रूप में प्रकट होने के कारण नवीनता ग्रहण कर लेती हैं।"[1] 'सेल्फ' पद प्राप्त कर लेने के उपरान्त जीवन में आने वाली अवश्यम्भावी द्वन्द्वशीलता के प्रति हमारा क्या रुख हो जाता है। उसकी व्याख्या करता हुआ युंग लिखता है—"व्यक्तित्व के उच्च-स्तरीय दृष्टिकोण से वे वस्तुएँ जो कि एक निम्न स्तर पर संघर्ष और भयप्रद झंझा-वात का प्रभाव उत्पन्न करती हैं, ऐसी प्रतीत होती हैं मानो पर्वत के किसी उच्च शिखर से घाटी में उठे हुए तूफान का अवलोकन किया जा रहा हो, इस स्थिति में इस तूफान की वास्तविकता किसी भी प्रकार कम नहीं होती, केवल इतना ही होता है कि व्यक्ति तूफान का अवलोकन करते हुए भी अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाये रखता है।"[2] हमारे विश्लेषण के अनुसार कृष्ण 'सेल्फ' के प्रतीक रूप हैं किन्तु उनका पार्थिव शरीर निःशेष हो जाता है। मानव जीवन की द्वन्द्वशीलता की सीमाओं से मुक्त रहने वाले कृष्ण ने अपने अवसान के गर्भ में विलीन होने से पहले अन्तिम संदेश के 'दायित्व' को शब्दबद्ध किया है—

1. "The greatest and the most important problems are basically all insoluble, they must be so because they express the necessary polanity immanent in every self regulating system. They cannot be solved but only transcended. This transcendence of the individual's personal problems reveals itself however, as a raising of the level of consciousness, a deepening. A cloftier and wider interest comes into view and through this broadening of horizen the insoluble problems loose their urgency. It is not logically solved in its own terms but pales before new and stronger directive. It is not repressed and made unconscious but simply appears in another eigut and so becomes different."

   —The Secret of the Golden Flower : Jung : p. 88

   —सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 170

2. "What on a lower plane would give occasion to wildest conflict and to panicky storms of effect appears now, viewed from a higher level of personality, as a storm in a valley seen from the peak of a high mountain. The reality of the storm is thereby not the least diminished, but one is no longer in it, but above it."

   —ibid., p. 88

   —वही : पृष्ठ 180

"मेरा दायित्व—वह स्थिर रहेगा
हर मानव के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन-निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर···।"[1]

अश्वत्थामा की जिज्ञासामय प्रश्नाकुलता सिर उठाती है कि क्या इस अर्थ में प्रत्येक विकृत, अर्ध-बर्बर, आत्मघाती तथा अनास्थामय व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता को आत्मसात् कर लेगा ? कृष्ण के अन्तिम शब्दों के वाहक वृद्ध याचक का स्वर स्वीकारात्मक शीश झुकाता है। ऐसी स्थिति को विश्लेषित करता हुआ युंग लिखता है—"चेतन व्यक्तित्व में 'आत्म' की उत्पत्ति केवल पूर्वगत मनःकेन्द्र का स्थानान्तर ही नहीं प्रकट करती वरन् उसके परिणामस्वरूप जीवन के प्रति पूर्णतः परिवर्तित दृष्टिकोण व्यक्त करती है। यह अपने सम्पूर्ण अर्थ में एक प्रत्यावर्तन होता है।"[2] इसके उपरान्त ऐसी चेतना का उदय होता है जो क्षुद्र और वैयक्तिक अतिचेतन अहं की बन्दिनी न रहकर विस्तृत वस्तुजगत की सहयोगिनी हो जाती है। यह विस्तृत और गंभीर चेतना आशा, कामना, भय, वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं और अग्राही चेतना का अहंमपूर्ण एकत्रीकरण नहीं रह जाती जिनकी अचेतन वैयक्तिक प्रति प्रवृत्तियों द्वारा सुधार या परिपूर्ति करना आवश्यक हो। वह तो व्यक्ति को अबाधित बंधन और अभेद्य सम्बन्ध की स्थिति में रखती है।"[3] मानव-मर्यादा को अमर-संजीवनी शक्ति प्रदान करने वाले कृष्ण अपनी उन्मुक्त भौतिक सत्ता का परित्याग कर मानव-मन के आन्तरिक वृत्त[4] में प्रवेश कर जाते हैं। अतिमानवीय सम्भावनों की चेतना से पराभूत मानव अपने अन्तर्वृत्त से

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 127-128
2. "The birth of the self signifies for the conscious personality not only a displacement of the previous psychological centre, but also as consequence there of completely altered view of the attitude towards life, a transformation in the fullets sense of the word."

   —Jacobi : p. 88

   —सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 181
3. वही : ज्वालाप्रसाद खेतान : पृष्ठ 172
4. यहाँ 'वृत्त' शब्द ध्यान देने योग्य है। युंग की दृष्टि में 'सेल्फ' सदा वृत्त में ही अपनी अवस्थिति को अभिव्यक्त करता है। चीनी दर्शन का 'ताओवाद' भारतीय योग के मण्डल प्रतीक तथा मध्यकालीन योरोपीय 'आल्केमीशास्त्र' के प्रतीकों का विश्लेषण कर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि व्यक्ति को 'सेल्फ' की अनुभूति वृत्त में किसी तेज के रूप में होती है। इस विषय के लिए युंग की integration of personality तथा the secret of the golden flower तथा उसका एल्केमीशास्त्र सम्बन्धी लेख द्रष्टव्य हैं।

पूर्णतः परिचित होता है और इसी सीमा रेखा पर आकार कृष्ण के पार्थिव शरीर की नाटकीय आवश्यकता अन्त शब्द से सम्बद्ध हो जाती है। मानव की अति मानवीय सम्भाव्यता की चेतना के व्यापक सत्य को निजी रूप से भारती ने उपलब्ध किया।

प्रस्तुत काव्य-रूपक में युयुत्सु का चरित्र सबसे दयनीय है। कवि ने एक ओर उसे सत्य का कर्मकलश लेकर अन्याय के विरुद्ध युद्ध क्षेत्र में लड़ने वाले कर्तव्यशील योद्धा की संज्ञा से अलंकृत किया, दूसरी ओर उसे सत्य का आश्रय लेने के कारण अपराधी मान उसकी नियति को दारुण बिडम्बना के तारों से उलझा दिया। उसके दुर्दैव ने सत्य के वक्ष को भी छलनी कर दिया जिसके कारण वह पीड़ा से कराह उठता है—

> "मेरा अपराध है सिर्फ इतना है
> सत्य पर रहा मैं दृढ़...
> ...मैं भी हूँ कौरव
> पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से।"[1]

कौरव और पाण्डव वंश के अतिरिक्त माता की उपेक्षा ने अन्ततः उसे अर्द्ध विक्षिप्तता की न निकलने वाली भंवर में झोंक दिया। यह अवमानना इतनी प्रत्यक्ष थी कि युयुत्सु सत्य के प्रति अपनी चरम अनास्था प्रकट करता हुआ दर्द की रेखाओं से बँध जाता है। उसके शब्द :

> "अच्छा था यदि मैं
> कर लेता समझौता असत्य से।"[2]

उसकी चरम विवशता को ध्वनित करते है। "आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु है। निश्चित परिपाटी से पृथक होकर अपना पथ आप निर्धारित करने वाले इस चरित्र में आज के मानव की पीड़ा और यातना साकार हो उठी है।"[3] उसकी आत्मा अपमान से और उपेक्षा से आहत होकर कराह उठती है। घायल आत्मा से निःसृत शब्द भी टूट कर बिखरते जान पड़ते हैं मानो उसकी पीड़ा को वहन करने में असमर्थ हों—

> "...मातृवंचित हूँ
> सबकी घृणा का पात्र हूँ।"[4]

यह घृणा की कुहेलिका युयुत्सु को बुरी तरह जकड़ कर तोड़ सकती है, उसके अस्तित्व के खण्डित अणु नदी में बहे पानी की भाँति बह जाते हैं। इस अवश परिस्थिति में वह आत्मघात के क्रूर मग में अपनी साँसों को बिखेर कर लम्बे सफर पर चल देता है।

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 53
2. वही : पृष्ठ 56
3. समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि : जयदेव तनेजा : पृष्ठ 97
4. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 159

उसके अनुसार—

"अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।"[1]

उपहास की दयनीय पीड़ित स्थिति में युगपुरुष कृष्ण की उदासीनता युयुत्सु की आस्था के स्वर्णिम सूर्य को अनास्था की गहन अन्धकारमय दिशा में अवसान करा देती है इसलिए कृष्ण के मरण के अवसर पर युयुत्सु के प्रेत को कृष्ण के कट्टर विरोधी के रूप में अंकित किया गया है। इस महिमामय मरण पर भी युयुत्सु की अनास्था की रेखाएँ धुंधली नहीं होतीं—

"जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बाँधना हमको..."[2]

युयुत्सु की प्रारम्भिक आस्था अन्त में खोटे सिक्के में बदल जाती है। यह अनास्थामय निराशा अधिक प्रभावशाली और झंझोड़ने वाली है। विश्लेषण की रेखाओं को अन्त में बाँधने पर यही कहेंगे कि युयुत्सु का चरित्र अनास्था के अधिक निकट है।

युधिष्ठिर का चरित्र दुर्बल रेखाओं से बंधा हुआ है। इच्छा रहते हुए भी भीम द्वारा युयुत्सु को अपमानित करने से न रोक पाना, कुटुम्ब पर वश न होना, प्रहरियों की कटूक्तियाँ आदि उसके निर्बल व्यक्तित्व की ओर संकेत करती हैं। युधिष्ठिर अपने परिजनों की चारित्रिक व्याख्या देता है जिसमें उसकी चरम हताशा, निराशा, दुश्चिन्ता के साथ-साथ सर्वव्यापी अन्धकार और ह्रास के संकेत छिपे हुए हैं।

"यह है मेरा
ह्रासोन्मुख कुटुम्ब
जिसे कुछ ही वर्षों में बाहर घिरा हुआ
अन्धेरा निगल जाएगा।"[3]

युद्ध के उपरान्त आत्मघात की मनोवृत्ति युधिष्ठिर को राज्य त्याग कर चले जाने को प्रेरित करती है। उसकी विरक्ति एक सीमा-बिन्दु को भी पार कर जाती है और मानसिक अशान्ति के संघर्षों से आहत युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र आदि की मृत्यु का समाचार पा हिमालय के हिमाच्छादित शान्त रम्य स्थान पर तपश्चर्या करने की इच्छा प्रकट करते हैं। युधिष्ठिर का क्षोभ भी विकृत मनोवृत्तियों से ग्रसित समाज की ओर ही संकेत करता है। ह्रासोन्मुख समाज और कुटुम्ब को निम्न मनोवृत्तियों की जैसी

1 अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 57
2. वही : पृष्ठ 124
3. वही : पृष्ठ 105

सशक्त अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में चित्रित है वैसी अभिव्यक्ति 'जय भारत' तथा 'कुरुक्षेत्र' में नहीं उपलब्ध होती। 'कुरुक्षेत्र' और 'जय भारत' के युधिष्ठिर ने युद्ध की निस्सारता और अपनी भूल के प्रायश्चित को अधिक महत्व दिया है। 'अन्धा युग' में युद्ध के दुष्परिणामों से उत्पन्न आन्तरिक प्रतिक्रियाओं का संकेत अपेक्षाकृत अधिक है। 'जय भारत' के युधिष्ठिर एक ओर युद्ध की विनाशक लीला से क्षुब्ध हैं तो दूसरी ओर बलराम द्वारा युद्ध की कटु आलोचना करने पर अपने को सर्वथा निर्दोष सिद्ध कर क्षात्र-धर्म को युद्ध होने का मूल कारण मानते हुए उसे उत्तरदायी ठहराते हैं—

"दोष नहीं मेरा यदि है तो क्षात्र धर्म का
हम अपराधी क्षात्र धर्म पालन के हैं।"[1]

'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर ने भी युद्ध की ताण्डव-लीला के द्वेष से उत्पन्न सम्पूर्ण देश के विनाश की बात को दृष्टिगत करते हुए कहा है—

"पाँच असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।"[2]

'अन्धा युग में युद्ध के उपरान्त होने वाली ह्रासोन्मुख मनोवृत्तियों की आलोचना द्वारा युद्ध की निस्सारता की ओर इंगित करते हुए युधिष्ठिर कहता है—

"ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है......।"[3]

वस्तुतः युधिष्ठिर के चिन्तन को माध्यम बनाकर भारती ने जीवन दर्शन की एक सुनिश्चित धारा को अभिव्यक्ति की रेखाओं से बाँधने का प्रयास किया है।

भारती ने वृद्ध याचक को मनस्वी चिन्तक के रूप में उपस्थित किया है। वृद्ध याचक का आधा रूप प्रख्यात है और आधा रूप कल्पना के कोमल तन्तुओं से उत्पन्न। भारती ने अपने दृष्टिकोण को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से याचक-भविष्य की कल्पना को खो दिया है। डॉ० रामदरश मिश्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है कि "वास्तव में वृद्ध व याचक कवि की एक कल्पना है—यह और कोई नहीं, कौरवों के भीतर से उपजा हुआ भावी है जो द्वन्द्व है, लड़ाई में उनकी विजय देखता था लेकिन कौरव हार गए। उनका भविष्य, उनका भावी स्वप्नजीर्ण याचक सा असत्य सिद्ध होकर उन तक ही लौट आया और फिर यहाँ मारा-मारा फिर रहा है। उस भविष्य ने अपने को वर्तमान से काटकर देखा, स्वप्न ने अपने को यथार्थ से विच्छिन्न करके

1. जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त : पृष्ठ 409
2. कुरुक्षेत्र : दिनकर : पृष्ठ 6
3. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 104

देखा इसलिए उसकी वाणी मिथ्या सिद्ध हुई।"[1] अन्त में कवि ने उसको 'जरा' नामक संज्ञा से विभूषित किया जो भागवत की रेखाओं से साम्य रखता है। प्रेत शक्ति, मन्त्र-विद्या, मृत्यु के अनन्तर व्याघ रूप में मंच पर उपस्थित करना कवि द्वारा अंकित अविश्वसनीय प्रसंग है किन्तु इस विषय में मतभेद नहीं होगा कि युद्ध वाचक के माध्यम से कवि ने अपने जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया, इसलिए वृद्ध याचक का इसमें विशिष्ट योगदान है। उद्धरण के लिए हम निम्नलिखित उक्ति को उद्धृत कर सकते हैं—

"नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव निर्णय बनाता-मिटाता है।"[2]

कल्पना की उर्वर शक्ति से रचित 'प्रहरी युग्म' को कवि ने क्रियाशील पात्रों का में अवस्थित नहीं किया किन्तु तटस्थ द्रष्टा के रूप में समग्र घटना-क्रम के तारों को उन्होंने अपने अनुभूतियों के साथ बड़ी गंभीरता से गूँथा है। वातावरण और परिवेश प्रभाव व्यक्ति, समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। प्रहरी युग्म की कल्पना कर भारती ने इसी उद्देश्य की सिद्धि की। यथा—"अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे?" इसी कारण वे कहीं—"हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा, क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था", कहकर अपनी उदासीनता को वाणी देते हैं और कहीं "सूने गलियारे सा सूना यह जीवन बीत गया"[3] कहकर अपनी जीवन की घुटन और निरर्थकता से परिचालित अन्तर्द्वन्द्व को असन्तोष से लपेट कर क्षुब्ध होते हैं। प्रहरी-युग्म की कल्पना ने निश्चय ही आस्था-अनास्था, जीवन की सोद्देश्यता, मर्यादा और मूल्य के महत्व आदि के परिवेश में कवि के जीवन-दर्शन को सुदृढ़ और सशक्त अभिव्यक्ति में सहायता दी है।

इन पात्रों के अतिरिक्त कृपाचार्य को द्रोणाचार्य की भाँति क्षत्रियोचित ओजदीप्त स्वभाव के रूप में अंकित किया गया है। युद्ध की विभीषिका का जीवित अभिशाप, अपंग गूंगा सैनिक जो हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। वह युद्ध की विडम्बना की साक्षात् यातना का, मानवता को एक घायल विक्षिप्त उपहार है। कृतवर्मा वीरोचित मर्यादा का निर्वाह करता है। व्यास, बलराम आदि प्रधान पात्रों के चरित्र विकास में सहयोगी हैं किन्तु स्वयं में नगण्य हैं। प्रसिद्ध नाट्यालोचक श्री नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में—"इस नाटक के सभी पात्र मूल्यांधता के किसी-न-किसी स्तर, रूप या पक्ष के प्रतीक हैं। अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, कृपाचार्य,

1. हिन्दी कविता, तीन दशक : डा० रामदरश मिश्र : पृष्ठ 173
2. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 24
3. वही : भारती : पृष्ठ 24, 26, 27

युयुत्सु, संजय, युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डव और अन्ततः स्वयं कृष्ण। प्रहरियों के रूप में जनसाधारण की कल्पित निर्लिप्तता भी उसी अन्धता का एक रूप है।"[1]

समग्रत: विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि 'अन्धा युग' के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। इन प्रतीकात्मक पात्रों का कवि ने रचना में सफलता से निर्वाह किया है।

2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : डा० महेन्द्र भटनागर (सं०) : पृष्ठ 76

षष्ट अध्याय

अन्धा युग : भाषा

'अन्धा युग' भारती का नवयुग के नए मूल्यों को लिए हुए एक सुन्दर एवं सफल दृश्यकाव्य है। इसकी वस्तु संयोजना जहाँ पूर्णतः मौलिक है, वहाँ इसका अभिव्यंजना-शिल्प भी अत्यन्त मार्मिक है। अभिव्यंजना-शिल्प की सबसे महत्वपूर्ण शक्ति भाषा है। इस दृष्टि से एक दृश्यकाव्य (नाटक) में अथवा एक रेडियो नाटक में जैसी चित्र-भाषा व ध्वनि-प्रभाव युक्त शब्दावली अपेक्षित होती है नाटककार ने उसकी सफल तथा साभिप्राय संयोजना की है। लेखक के शब्द-विन्यास में साहित्यिक हिन्दी का सुन्दर उत्कर्ष मिलता है, भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का तो लाभ लिया ही है, कहीं-कहीं तो संस्कृतियाँ (संस्कृत-उक्तियाँ) सर्वथा मूल रूप में ही प्रस्तुत कर दी हैं। यथा—

(क) "ततश्चार्थ एवाभिजन हेतुः।"[1]

(ख) "कपट वेश धारणमेव महत्व हेतुः।"[2]

(ग) "एवम् चाति लुब्धको राजा।"[3]

(घ) "सह्याश्शैलानामन्तर द्रोणीः प्रजाः संश्रियष्यन्ति।"[4]

तथा— "जटा कटाह सम्भ्रम भ्रमन्निलिम्प निर्झरी समा।

× × ×

किशोर चन्द्र शेखरे रति प्रतिक्षण मम।"[5]

शब्द चयन

यद्यपि इस काव्य-नाटक में मूलतः संस्कृत शब्दावली का ही अधिकांश प्रयोग किया गया गया है, तो भी भाषा में दृश्यकाव्यानुरूप सर्वसाधारणार्थ उपयोगिता की दृष्टि से स्थान-स्थान पर उर्दू व अंग्रेजी के शब्द, कहीं-कहीं बोलचाल की शब्दावली का भी उदारतापूर्वक प्रयोग किया है—बाकी, लेकिन, खुदा, फर्क, पोशाकें, नफरत

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 9
2. वही : पृष्ठ 10
3. वही : पृष्ठ 9
4. वही : पृष्ठ 10
5. वही : पृष्ठ 78

ज्यादा, जख्म, गलत आदि उर्दू तथा स्टेट, विग, विग्स आदि अंग्रेजी शब्द हैं।[1] भाषा को पूर्ण व्यवहारिकता व सर्वसाधारण-सुलभता का रूप देने के लिए उसमें स्थान-स्थान पर तद्भव व समतुकान्त शब्दों का प्रयोग उसके सौन्दर्य में चार चाँद लगा देता है—यथा—नित, बरस, सपने, पात[2] व हरी-भरी, मस्त-व्यस्त, अस्त्र-शस्त्र, धारा-उपधाराएँ[3] आदि।

भाषा को व्यावहारिकता के पूर्ण साँचे में ढालने के लिए उन्होंने अपनी भाषा पर उर्दू के प्रभाव तक को लाद दिया है, यथा 'सिर' के स्थान पर 'सर'[4] इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि उनकी भाषा सर्वांगीण व्यावहारिकता एवं दृश्य-काव्यानुरूप सर्वसुलभता लिए हुए अपनी भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सफल होती हुई उनकी अभियंजना शक्ति का समर्थ माध्यम है।

साभिप्राय विशेषण—साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग भाषा को और भी अधिक सुन्दर तथा सक्षम बना देता है, इस दृष्टि से 'अन्धा युग' अपनी एक मूलभूत विशेषता रखताहै। लेखक ने इस नाते पर्याप्त मौलिकता, विवेकता, जागरूकता तथा औचित्य-वृत्ति का ध्यान रखा है अर्थात् यद्यपि 'अन्धा युग' में कलुषित-कथा, दिव्य-दृष्टि, अन्धी आशा[5] आदि अनुप्रास संयोजक विशेषणों का प्रयोग अधिक नहीं है तो भी 'अन्धा युग' के विशेषण—अन्धी-आशा, अजब-युद्ध, उद्धत-अनास्था, काला-लोहू, अलौकिक प्रकाश, समवेत-अट्टहास, अमानुषिक-विनोद, मरणासन्न ईश्वर[6] तसद विशेष्यों को गरिमा व विशिष्टता प्रदान करने वाले तथा अपने विशिष्ट विन्यास के कारण सहज ही श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार साभिप्राय तथा गरिमायुक्त विशेषण प्रयोग भी भाषा की अभिव्यक्ति शक्ति (अभिव्यंजना शक्ति) की श्री वृद्धि करते हैं। हाँ, एकाध विशेषण ऐसे भी हैं जिनके प्रति कवि के मन में अत्यधिक पूर्वाग्रह अथवा मोह सा रहा है—जैसे अन्ध या अन्धापनवाचक विशेषण की अतिबहुलता कुछ खटकती ही है एवं इनसे कवि के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति की गारिमा भी कुछ न्यून हो हुई है यथा—अन्धों की कथा, अन्ध-गुफा, भय का अन्धापन, अन्धी-संस्कृति, अन्धी-प्रवृत्तियाँ, अन्धा-पशु, अन्धे-साँप, अन्धा-समुद्र, अन्ध-लोक, अन्धा युग[7] आदि।

शब्द-शक्तियों का प्रयोग—शब्दावली को सशक्त बनाने के लिए यद्यपि भारती ने प्रमुख रूप से लक्षणा शक्ति तथा वक्रोक्ति के विविध प्रयोगों को विशेष स्थान दिया है किन्तु कथागायनादि प्रसंगों में अभिधा का भी सशक्त प्रयोग मिलता है। जैसे कथा खण्डों

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 12, 21, 17, 38, 73, 74, 115, 127, 103
2. वही : पृष्ठ 51, 103, 103, 120
3. वही : पृष्ठ 73, 82, 103
4. वही : पृष्ठ 58
5. वही : पृष्ठ 54, 81, 27
6. वही : पृष्ठ 27, 11, 22, 79, 90, 105, 129
7. वही : पृष्ठ 10, 11, 13, 21, 73, 124

की पृष्ठ भूमि प्रसंग विशेष के सम्पूर्ण दृश्यों का अंकन तथा कथावृत्त को विवरणात्मक रूप से प्रस्तुत करने में अभिधा शक्ति का अत्यन्त सशक्त व स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। सामान्यतया लेखक ने अपने काव्यनाटकगत शब्दार्थ में नवीनता लाने के उद्देश्य से तथा अपनी रचना में अर्थगांभीर्य के उत्कर्ष की सृष्टि करने के लिए भाषा को लाक्षणिक भंगिमाओं से सप्राण बनाया है। लक्षणा के विविध रूपों के उदाहरण 'अन्धा युग' में स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं, यथा—"गान्धारी पत्थर थी; उसके श्रीहत मुख पर जीवित मानव सा कोई चिह्न न था।"[1] यहाँ गौणी लक्षणा का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यहाँ अभिधा के अर्थ के अनुसार गान्धारी को पत्थर मानने में अर्थ की बाधा है किन्तु संजय से युद्ध कथा सुनते हुए उसकी मनःस्थिति का पत्थर जैसी निष्प्राण होना स्वाभाविक है अतः गौणी लक्षणा का सुन्दर निर्वाह हुआ है। निरूढ़ा लक्षणा के रूप में मुहावरों का प्रयोग तो प्रायः पर्याप्त मिलता है। यथा—"जनता उनसे पीड़ित होकर गहन गुफाओं में छिप कर दिन काटेगी", "बूढ़ा झूठा भविष्य याचक सा है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे, लोहा मैं लूंगी कृष्ण से आज उसके लिए, मरने का नाटक रचकर वह चाहता है बाँधना हमको।"[2] आदि।

उक्तियों में प्रचलित मुहावरों का सुन्दर प्रयोग है। ध्वनि या व्यंजना तो काव्य का प्राण ही है, भारती ने अपनी उक्त दृश्यकाव्यमयी रचना में व्यंजना का प्रयोग बहुत ही सुन्दर व सफल रूप में किया है। निम्न पंक्तियों में युगपुरुष श्रीकृष्ण के सन्देश तथा युगपुरुष की पूजा का प्रकार एवं युगपुरुष के दिव्य आदर्श ग्रहण की व्यंजना देखिए—

वृद्ध— "बोले अवसान के क्षण में प्रभु···
···जीवित और सक्रिय हो उठूंगा मैं बार-बार।"[3]

युग-पुरुष की पूजा ही जीवन यज्ञ की सफलता है तथा युगपुरुष की पूजा का प्रसाद प्राप्त करना ही (उसके आदर्शों पर आचरण ही) युगपुरुष को जीवनदान है और उसके आदर्शों के विरुद्ध आचरण ही उसकी (युग पुरुष की) आत्महत्या है इन भावों की सुन्दर व्यंजना नीचे लिखी पंक्तियों में देखिए—

अश्वत्थामा — "उसके इस नए अर्थ में···
···जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।"[4]

कौन से मानव युगपुरुष के अयोग्य पुजारी है तथा कर्मयोगी मानव ही युगपुरुष या युगदेवता के सच्चे व सफल पूजक बनने की क्षमता रखते हैं इन भावों की सुन्दर व्यंजना भी द्रष्टव्य हैं—

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 47
2. वही : पृष्ठ 10, 27, 98, 124
3. वही : पृष्ठ 127, 128
4. वही : पृष्ठ 128

संजय— किन्तु मैं निष्क्रिय अपंग

अश्वत्थामा— ....

वृद्ध— क्या कोई सुनेगा ? क्या कोई सुनेगा...।"[1]

इस प्रकार प्रायः दृश्यकाव्य के उद्देश्य की अभिव्यक्ति तो सर्वत्र ही सुन्दर व्यंजना को लिए हुए है।

उपसर्गवक्रता व नाद-सौन्दर्य—भाषा में विशिष्टता लाने के लिए वक्रोक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। यथा पूर्वोक्त विशेष्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करने वाले विशेषणों का सहज प्रयोग, 'सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित'[2] इत्यादि में 'प्र', 'परि' आदि उपसर्गों के सार्थक प्रयोग द्वारा विशिष्ट वर्णन प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उपसर्गवक्रता का सफल प्रयोग एवं—

'सब विजयी थे लेकिन थे विश्वासध्वस्त
थे सूत्रधार खुद कृष्ण किन्तु थे शापग्रस्त।"[3]

जैसी उक्तियों में नाद-सौन्दर्य व श्रुति सुखदतार्थ स, श, क आदि वर्णों की आवृत्ति द्वारा वर्ण-विन्यास वक्रता की योजना है।

सर्वनामों का बहुल प्रयोग—भारती का 'अन्धा युग' सफल प्रतीकात्मक दृश्य-काव्य है, अतः भावों में विशेषता लाने के उद्देश्य से संवृत्तिवक्रता अर्थात् भाववैशिष्ट्य के लिए सर्वनामों का बहुलता से प्रयोग किया गया है। यथा—"वह जो सम्राटों का अधिपति था", और "यह जो अनुभूति मिली है क्या वह आस्था है"[4] आदि उक्तियों में 'यह' व 'वह' सर्वनामों के प्रयोग से सहृदयों को सम्बन्धित वर्ण्य-विषय का सीधा अभिधात्मक चित्रण देकर उसकी कल्पना-शक्ति का उन्मेष किया गया है। इसी प्रकार निपातवक्रता का सुन्दर उद्धारण देखिए—

"आह माता गान्धारी...
माता, ओ माता।"[5]

निपात और पर्यायवक्रता—उक्त उक्ति में 'आह' व 'ओ' निपातों का प्रयोग पात्र विशेष की मनःस्थिति का बोध कराने और भाव विशेष की व्यंजना में असाधारण महत्व रखता है। स्थान-स्थान पर पर्याय-वक्रता की भी योजना अत्यन्त सुन्दर है यथा—भगवान शिव के लिए अन्यत्र शंकर शब्द का प्रयोग करने पर भी अश्वत्थामा को अशीष देते समय उनका शीघ्रतोषी भाव प्रकट करने का आशुतोष शब्द कितना मार्मिक है—

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 128, 129
2. वही : पृष्ठ 21
3. वही : पृष्ठ 103
4. वही : पृष्ठ 31, 123
5. वही : पृष्ठ 113

"वे आशुतोष हैं, हाथ उठाकर बोले
अश्वत्थामा तुम विजयी होंगे निश्चय।"[1]

बिम्ब-योजना—उच्च कोटि के काव्य में मात्र अर्थग्रहण से ही काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित होता है। बिम्ब-योजना की दृष्टि से भी यह कृति उच्च कोटि की सिद्ध होती है। बिम्ब-कल्पना की समृद्धि अनेक स्थानों पर मुखरित है। एक-एक स्थल अप्रतिम बिम्बात्मक शक्ति से युक्त है। उदाहरण के लिए हम जीवन और बाढ़ के सादृश्य बिम्ब को यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं—

"जिस तरह बाढ़ के बाद उभरती गंगा
तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया
वैसे ही तट पर तज अश्वत्थामा को
इतिहासों ने खुद नया मोड़ अपनाया।"[2]

उपरोक्त स्थल पर बड़े ही कौशल से कवि ने अर्थपूर्ण बिम्ब द्वारा युद्ध में शेष बचे अश्वत्थामा के जीवन का अर्थपूर्ण विकृत रूप चित्रित किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी बिम्बों की सशक्तता कम प्रभावशाली नहीं है। "नाटक प्रारम्भ से अन्त तक कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों से भरा पड़ा है। स्थल-स्थल पर भावपूर्ण बिम्ब उभरते चलते हैं।"[3] जैसे—

"वाणी हो सत्य धर्म राज की
मेरी इस पसली के नीचे
दो पंजे उग आयें
मेरी ये पुतलियाँ
बिन दाँतों के चीथ खायें।"[4] इत्यादि।

प्रतीक योजना—प्रतीकों की योजना अत्यन्त सुन्दर, स्वतन्त्र व स्वछन्द है, रूढ़ नहीं। यथा—धृतराष्ट्र व गान्धारी के लिए—'बुझती लपटें' सर्वथा मौलिक प्रयोग है—

"अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाकी।"[5]

काव्य-गुण—प्रतीक-विधान की भाँति ही उन्होंने काव्यगुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) की भी सुन्दर समवेत योजना की है। यद्यपि विशेष रूप से 'अन्धा युग' में ओज गुण का ही प्रयोग है किन्तु प्रसाद गुण की भी विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता है।

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 78
2. वही : पृष्ठ 46
3. हिन्दी गीति-नाट्य : कृष्ण सिंहल : पृष्ठ 120
4. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 36
5. वही : पृष्ठ 27 (प्रतीक-योजना के विषय में विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय को दृष्टिगत किया जा सकता है।)

संयुक्ताक्षरों, टवर्ग आदि कठोर वर्णों के प्रयोग से विभूषित ओजगुण व परुषावृत्ति की छटा देखिए—

"खंडित कबन्धों में
टूटी पसलियों में
विचरण करता हुआ अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ।"[1]

भाषा द्वारा वातावरण-निर्माण—आलोच्य कृति के अपेक्षित वातावरण-निर्माण में कृतिकार की सशक्त भाषा ने भी अपूर्व योग दिया है। पहले अंक के प्रथम कथा-गायन के बाद पर्दा उठता है और खाली स्टेज पर दो सशक्त प्रहरी वार्तालाप करते हैं। ये प्रहरी सत्रह दिनों तक इसी प्रकार पहरा देते रहे हैं। सम्पूर्ण मंच पर युद्ध की अन्तिम संध्या का सूनापन छा रहा है और ये दो प्रहरी लगता है कि उदासी और शून्यता की ही रक्षा कर रहे हैं। यहाँ गंभीर परिस्थिति के जिस वातावरण का निर्माण किया गया है, वह अर्थमयी है। वातावरण निर्माण कवि ने उस भाषा के द्वारा किया है जो जीवन के समान ही भंगिमा धारण किए हुए है। ये पंक्तियाँ शाब्दिक संरचना के स्थान पर एक अलग अवधारणामूलक भाषिक संरचना प्रस्तुत करती हैं। इन पंक्तियों में जो एक प्रभावोत्पादक शक्ति अन्तर्निहित है, वह तथ्य कथन से अलग भाषा के किसी और संरचना विधान से आयी है। यह कथनमात्र नहीं है। इसकी प्रत्येक पंक्ति शाब्दिक अर्थ के 'अतिरिक्त' संकेत देती है। कवि शब्दों के माध्यम से उस सम्पूर्ण परिस्थिति का साक्षात्कार कराता है जिसमें युद्ध के बाद उदासी और शून्यता छायी है और हमारा मन-प्राण उस शून्यता एवं उदासी को स्पर्श के धरातल पर ग्रहण करता है और तब यह अनुभव तात्कालिक बन जाता है जिसे सहृदय अधिक तीव्रता के साथ महसूस करता है क्योंकि तात्कालिक अनुभव स्पर्शजन्य प्रत्यक्षता उत्पन्न करता है। इसलिए ये पंक्तियाँ जीवन की सहजता के समान हैं। इन पंक्तियों में वह जीवनधर्मिता विद्यमान है जो शाब्दिक तथ्य-कथन से अलग है।[2]

आज का युग नई कविता या प्रयोगवाद की ओर जा रहा है। अतः भारती ने भी अपने दृश्य-काव्य में कुछ स्थानों पर शब्दों को नए सन्दर्भ प्रदान किए हैं। यथा—

"आस्था नामक घिसा हुआ सिक्का।"[3]

दोष—यद्यपि भारती के 'अन्धा युग' की भाषा उपर्युक्त विशेषताओं को लिए हुए भावाभिव्यक्ति का सफल व सशक्त माध्यम बनी है तो भी कहीं-कहीं काव्य दोष भी लक्षित होते हैं। श्रीकृष्ण के लिए उन्होंने 'वह नील मेघ सा तनु साँवल'[4] प्रयोग

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 81
2. विस्तार के लिए देखें : वही : वही ; पृष्ठ 11, 12
3. वही : पृष्ठ 120
4. वही : भारती : पृष्ठ 127

किया, उन्ही के लिए अन्यत्र 'पीपल के दो चंचल पातों की छायाएँ रह-रह कर उनके कंचन माथे पर हिलती थीं' तथा 'दिव्यशान्ति छाई थी—उनके स्वर्ण मस्तक पर'[1]—में कंचन माथा तथा स्वर्ण मस्तक का प्रयोग अनौचित्य दोष का उदाहरण है, क्योंकि श्यामवर्ण शरीर में माथे का रंग स्वर्ण या कंचन जैसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार—'फिर चूर-चूर कर दिए ठोकरों से उसने मर्मस्थल'[2] में अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न का वध करते समय संजय की उपर्युक्त उक्ति अश्लीलत्व दोष युक्त है। अश्वत्थामा द्वारा शिव पर शस्त्र प्रहार करते समय कवि ने—शर, शक्ति, प्रास, नाराच, गदाएँ सारी, लोकोधित हो अश्वत्थामा ने मारी'[3] में जो शस्त्र सूची दी है, वह प्राय: पारिभाषिक सी है और आजकल उपर्युक्त शस्त्रों में से कुछ का प्रयोग न होने से और पाठक के लिए बोधगम्य न होने से—अप्रतीतत्व दोष लिए हुए है। विभिन्न स्थानों पर लिंग दोष व वचन दोष के कारण च्युत-संस्कृति दोष है—यथा—'हलक सी जमी होगी' में पुल्लिंग 'हलक' शब्द का स्त्रीलिंगवत् प्रयोग तथा 'जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल'[4] में 'किसकी' के स्थान पर 'किनकी' पद अभीष्ट होने से वचनदोष है।

इसी प्रकार 'यह सब है अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें', 'जो है प्रजायें', और 'तलवों में बाण बिधते हों'[5] में भी वचन-दोष है क्योंकि यहाँ क्रमशः 'यह' के स्थान पर 'ये', 'प्रजायें के स्थान पर 'प्रजा' और तलवों के स्थान पर 'तलवे' का प्रयोग शुद्ध व अभीष्ट है। उसी प्रकार—

"जा कर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।"[6]

पृष्ठ 38 पर लिखित संजय की इस उक्ति में धृतराष्ट्र व गान्धारी के लिए 'अन्धों' शब्द का कटु तिरस्कारयुक्त प्रयोग ग्राम्यत्व दोष लिए हुए है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि भारती के 'अन्धा युग' की भाषा अपनी विभिन्न विशेषताओं से भरी क्षमता के साथ-साथ कहीं-कहीं दोषगत दुर्बलता भी लिए है।

विविध शैलियाँ—चित्रभाषा के समान ही भारती ने उक्त गीति-नाट्य में विविध शैलियों का प्रयोग किया है, विशेषत: व्यंग्य शैली, विवरणात्मक शैली, सूक्ति शैली तथा चित्र शैली उल्लेखनीय हैं।

1. अन्धा युग : भारती : : पृष्ठ 79
2. वही : पृष्ठ 78
3. वही : पृष्ठ 79
4. वही : पृष्ठ 83, 16
5. वही : पृष्ठ 21, 104, 123
6. वही : पृष्ठ 38

विभिन्न स्थलों पर व्यंग्य शैली के बहुल प्रयोग द्वारा कवि ने उक्तियों को सघन-प्रभावयुक्त बनाने का सफल प्रयास किया है। अश्वत्थामा, गान्धारी, विदुर व प्रहरियों के सम्वाद इस दृष्टि से विशेष द्रष्टव्य हैं। कहीं-कहीं सूक्ति शैली का सफल उद्बोधनात्मक प्रयोग है—यथा—केवल स्वयं किया हुआ—मर्यादित आचरण कवच है, जो व्यक्ति को बचाता है।"[1]

जहाँ तक विवरणात्मक शैली का प्रयोग है, वह कहीं सजीव तो कहीं निर्जीव-सी मिलती है अर्थात् कवि ने पृष्ठ 79, 80 पर पाण्डव-शिविर की नाश-कथा को संजय और विदुर के शब्दों में जहाँ अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यक्त किया है, वहाँ सम्राट होकर भी धर्मराज युधिष्ठिर के सन्तरूप व्यवहार के प्रति प्रहरियों की प्रतिक्रिया अत्यन्त निर्जीव प्रश्न शैली में वर्णित है—

'ज्ञान और मर्यादा
उनका करें क्या हम ?
या उनको ओढ़ेंगे ?
या उन्हें बिछाएँगे ?"[2]

हाँ, चित्रशैली का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जो पर्याप्त सफल है और कथावृत्त को प्रस्तुत करने में नाट्य गुण को सबलता प्रदान करता है। यथा—भीम द्वारा दुःशासन की छाती से उबलते रक्त को अंजुली से पीना, युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य के कारण अश्वत्थामा के भावों की भ्रूणहत्या, रोगी या मुर्दे के मुख के गन्दे और बासी थूक की तरह जीवित अश्वत्थामा[3] आदि प्रसंग चित्रभाषा का उन्मुक्त प्रयोग लिए हुए हैं। ये चित्र कथानक की मूल प्रकृति के अनुसार ही प्रायः उद्वेगजनक, वीभत्स या उग्रतामूलक हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित—

"आँखों के कोटर से दोनों साबित गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गए।"[4]

उक्ति में इतना भयावह शब्द-चित्र खींचा गया है कि उपमा और रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग भी चित्र की भयावहता को कम नहीं कर सका।

अलंकार-विधान—'अन्धा युग' का अलंकार विधान पूर्णतः सहज और स्वाभाविक है। जहाँ अर्थालंकारों का समुचित प्रयोग काव्य में अर्थ गौरव व चमत्कार की अभिवृद्धि करता है वहाँ शब्दालंकारों का प्रयोग भी शब्द श्रीवृद्धि में सफल सहायक है। तात्पर्य यह है कि 'अन्धा युग' की अलंकार-योजना सुचारु सुनियोजित व स्वाभाविक है। 'अन्धा युग' की बहुत सी उपमाएं और चित्र-योजनाएँ काव्य के गुण

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 97
2. वही : पृष्ठ 107, 108
3. वही : पृष्ठ 18, 19, 34, 35
4. वही : पृष्ठ 79

को बढ़ाती हैं।'[1] जहाँ उन्होंने 'सुरभित पवन-तरंगों सी' (गति) तथा 'फूलों-सी वधुओं'[2] में धर्म-लुप्तोपमा की योजनार्थ माधुर्यपरक उपमान से योजन की पद्धति अपनाई है वहाँ विदुर द्वारा 'माता' सम्बोधन को लेकर कौरव पराजय से क्षुब्ध गान्धारी की उग्र मनःस्थिति का उपमा के माध्यम से उग्रतापूर्ण अंकन भी किया है—'शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों सा, मेरी पसलियों में धंसता है'[3] स्पष्टतः उपमान संयोजन में कवि पूर्णतः जागरूक है। उसी प्रकार अपने 'अन्तर की अन्ध-गुफा', 'असमंजस का वन', 'मोह निशा', 'अन्धेपन का अंधियारा'[4] में रूपक अलंकार के संयोजनार्थ अमूर्त के लिए मूर्त तथा मूर्त के लिए अमूर्त उपमान देने की प्रक्रिया भी उल्लेखनीय है। कहीं-कहीं विरोधाभास अलंकार के भी स्वच्छ प्रयोग द्वारा भावाभिव्यक्ति में सौन्दर्य व चमत्कार का समावेश हो गया है। यथा—'मैं हूँ दण्डित किन्तु मुक्त हूँ'[5] अश्वत्थामा की उक्तियों में प्रायः रूपकातिशयोक्ति तथा उपमा का अनायास सुन्दर समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ—'सुन लो यह घोषणा उस अन्धे बर्बर पशु की'[6] तथा अश्वत्थामा द्वारा—

"पागल कुंजर
से कुचली कमल-कली की भाँति
छोडूंगा नहीं उत्तरा को भी।"[7]

उक्ति में स्वयं को 'पागल कुंजर' तथा उत्तरा को 'कमल-कली' कहलवाकर उपमा व रूपकातिशयोक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

अर्थालंकारों में 'मानवीकरण' के प्रयोग द्वारा कवि ने जड़ पदार्थों तथा अमूर्त स्थितियों का मानवीकरण करके अपनी मौलिक अभिव्यंजना शक्ति का परिचय दिया है। यथा—'नगर द्वार अपलक खुले ही हैं'[8], 'बूढ़ा झूठा भविष्य सा है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे'[9], 'करोड़ों यमलोकों की यातना कुतर रही है मेरे माँस को'[10] आदि उक्तियाँ मानवीकरण का सुन्दर निदर्शन हैं।

चित्रगुण समन्वित सहज प्रभावशील चपलातिशयोक्ति अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखिए—

1. विवेक के रंग : देवीशंकर अवस्थी (सं०) पृ० 400
2. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 12, 22
3. वही : पृष्ठ 22।
4. वही : पृष्ठ 10, 29, 113
5. वही : पृष्ठ 127
6. वही : पृष्ठ 38
7. वही : पृष्ठ 70
8. वही : पृष्ठ 26
9. वही : पृष्ठ 27
10. वही : पृष्ठ 121

"स्वीकार किया यह शाप कृष्ण ने जिस क्षण से
उस क्षण से ज्योति सितारों की पड़ गई मंद।"[1]

अर्थालंकारों का प्रयोग ही सहज और सुन्दर नहीं हुआ है शब्दालंकारों की स्वाभाविक गरिमा भी उल्लेखनीय है। यथा—'अन्धों को सत्य दिखाने में क्या मुझको भी अन्धा ही होना है'[2] में श्लेष का प्रयोग तथा श्रुतिमाधुर्य व भावावेगाभिव्यक्ति के लिए शब्द विशेष की पूर्ण वृत्ति द्वारा पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार की बहुलता बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। यथा—'टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर चुकी मर्यादा'[3], 'घिसट-घिसट कर आया हूं, मैं सैकड़ों कोस'[4]। इसी प्रकार शोक उत्साह आदि मनोवेगों की अभिव्यक्ति के लिए शब्द समूह की पुनः पुनः आवृत्ति से वीप्सा अलंकार भी सुन्दर रूप से प्रयुक्त हुआ है। यथा—

"मुझको क्या मिला विदुर, मुझको क्या मिला।"[5]
"मिल गया, मिल गया, मातुल मुझे मिल गया।"[6]
"उनको मैं मारूंगा, मैं अश्वत्थामा उन नीचों को मारूंगा।"[7]

स्थान-स्थान पर वचन-भंगिमार्थ विशेषण विपर्यय का सुन्दर प्रयोग है। यथा—'अन्धी आशा माता गान्धारी को'[8], 'मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे वह गला युधिष्ठिर का'[9], ऐसे ही 'बह चली हवा वह खड़-खड़ कर उठे ताड़'[10], में अनुरणनमूलकता से समृद्धि ध्वन्यर्थ व्यंजनालंकार का भी सुकर प्रयोग है। फलतः अर्थगाम्भीर्य एवं शब्द श्रीवृद्धि के लिए भारती के उक्त दृश्य-काव्य में द्विविध अलंकारों का सुन्दर व सहज प्रयोग हुआ है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

छन्द :—अपने दृश्य-काव्य के शिल्प-विधान को समृद्ध बनाने के लिए भारती ने मुक्त छन्द का प्रयोग किया है जिसमें पात्रों के सम्वादों में लय को बदल कर अभिव्यक्ति को एकरसता के दोष से बचा लिया है। इसीलिए पात्र विशेष की उक्तियों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न संवेगों के प्रादुर्भाव होने पर लयों का परिवर्तनात्मक प्रयोग किया गया है।" 'अन्धा युग' के सम्वादों के पद्य की एक विशेषता यह भी है कि उनकी लयमुक्त छन्द में बंधे होने के कारण दैनिक व्यवहार की भाषा की

---

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 101
2. वही : पृष्ठ 86
3., 4. वही : पृष्ठ 11, 122
5. वही : पृष्ठ 57
6. वही : पृष्ठ 69
7. वही : पृष्ठ 62
8. वही : पृष्ठ 27
9. वही : पृष्ठ 37
10. वही : पृष्ठ 119

लय के निकट आ गयी है जिसके कारण वह श्रोता को प्राकृतिक प्रतीत होती है।"[1] उदाहरणार्थ विस्तार के लिए संजय के सम्वाद पृष्ठ 79, 80 पर देखे जा सकते हैं। हाँ, प्रहरियों के सम्वादों में सर्वत्र लय की एकरूपता ही रखी गई है। लयाकार की भिन्नतार्थ कवि ने मुख्य दृश्य परिवर्तन के समय अन्तराल स्वरूप प्रस्तुत कथा-गायन तथा सामान्यतः कुछ अन्य प्रकीर्ण स्थलों पर 'मुक्त वृत्ति गन्धी पद्य' का प्रयोग किया है जिसमें लयाकार की भिन्नता स्पष्ट प्रगट हो गई है। यथा पृष्ठ 4, 5। एकरसता से बचने के लिए तुकान्त व अतुकान्त पद्धतियों का सुविधानुसार प्रयोग है यद्यपि मुख्यतः अन्त्यानुप्रास रहित पदावली का ही प्रयोग है।

"साहित्य में नक्काशी के व्यसनी कलाकार भारती ने जैसी सहज अलंकृत, व्यवस्थित तीखी शैली तथा भाषा का प्रयोग किया है, वह एक प्रौढ़, आत्मचेता एवम् संयम शील कलाकारिता की ओर संकेत करती।"[2] 'अन्धा युग' की परिमार्जित भाषा की चर्चा करते हुए कृष्ण सिहल ने भी लिखा है कि "...बोलचाल की भाषा के निकट होते हुए भी इस नाटक की भाषा परिमार्जित और शक्तिपूर्ण है।"[3] श्री नेमिचन्द जैन ने भी नाट्य शिल्प के स्तर पर 'अन्धा युग' की उपलब्धियों में भाषा को सबसे महत्वपूर्ण घोषित किया है—"नाट्य शिल्प के स्तर पर भी 'अन्धा युग' की कई उपलब्धियां हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है भाषा, जिसमें बिम्ब-प्रधानता और भाव-तीव्रता के साथ बोलचाल की सहजता और प्रवाह है, गति और लय की विविधता है। इसके कारण भी 'अन्धा युग' एक महत्वपूर्ण अनुभव का सार्थक भावात्मक वक्तव्य बन सका है।"[4]

इस प्रकार 'अन्धा युग' का पूर्ण अनुशीलन कर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं—भाषा प्रयोग, विशेषण-वक्रता व विशेष विपर्यय, शब्द-शक्ति संयोजना, वक्रोक्ति सौन्दर्य, बिम्ब-योजना, प्रतीक-विधान, ओज-माधुर्यादि गुण, भाषा द्वारा अपेक्षित वातावरण निर्माण, प्रयोगवादिता, चित्रशैली, अलंकार-विधान तथा छन्द के प्रयोग आदि सभी दृष्टियों से भारती की भाषा अपने काव्य की श्रीवृद्धि व भावाभिव्यक्ति की सफल पोषक है। भाषा की रचना ने सर्जन की शक्ति को विस्तृत करते हुए, कथ्य को समर्थ फलकाधार प्रदान किया है।

1. हिन्दी गीति-नाट्य : कृष्ण सिहल : पृष्ठ 121
2. सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद : खेतान : पृष्ठ 152
3. हिन्दी गीति-नाट्य : कृष्ण सिहल : पृ० 121
4. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : डा० महेन्द्र भटनागर (सं०) : पृ० 76

सप्तम अध्याय

अन्धा युग की रंगमंचीयता

रंगमंच : नाटक की अर्थरचना का उपकरण :—नाटक की कसौटी मंच है। निर्विवाद रूप से नाटक को मंचित किए बिना उसकी भाव-सम्पदा का मूल्यांकन नहीं हो सकता। 'इसकी (नाट्य पद्धति की) सजीवता रंगमंच अनुष्ठान में है—अभिनेताओं में, रंगशिल्प में, निर्देशन में अर्थात् उस सामूहिक मनोवृत्ति तथा परिवेश में, जब यह दृश्यगत हो।"[1] मंचीय निर्देशनों के विषय में भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की विचारधारा प्राय: एक-सी रही है। किन्तु नाटक मंच पर तभी अभिनीत किया जा सकता है जब उसमें अभिनयात्मकता के सभी गुण विद्यमान हों। अर्थात् जनसामान्य और विकसित रंगमंचों पर नाटक का प्रदर्शन करने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। इसके लिए नाटककार को मंच को दृष्टिपथ में रखते हुए अनेक विधि-निषेध नियमों से निकलना पड़ता है तभी वह नाटक इस उपयुक्त होता है कि उसे सफलतापूर्वक मंच पर प्रस्तुत किया जा सके। धर्मवीर भारती ने अपने निबन्ध संग्रह 'पश्यन्ती' में लिखा है कि—"आज जब नाट्य-लेखन की समस्याओं पर विचार करने हम इकट्ठे हुए हैं, मुझे एक वयोवृद्ध नाटककार का आत्मीय-भरा चेहरा याद आ रहा है—मामा वरेरकर का। जब कभी हिन्दी नाटक और रंगमंच की बात चलती, मामा बड़े दृढ़ स्वरों में कहते, "भाई, जब तक हिन्दी नाटक खेले नहीं जाते तब तक अच्छे नाटक लिखे कैसे जाएंगे और खेलने के लिए कालेज-युनिवर्सिटी के छोकरों का अधकचरा रंगमंच था। बड़े-बड़े शहरों के चन्द पढ़े-लिखों का शौकिया रंगमंच से नाट्य-लेखक का सीधा सम्बन्ध जुड़े तभी ठीक नाटक रचना सम्भव है। "....नाटक लिखकर अपना और दूसरों का वक्त क्यों बरबाद करते हो? आप इससे सहमत हो या न हो, पर बात उनकी दो टूक थी और जाहिर तौर पर प्रसाद जी की उस स्थापना से कि नाटक रंगमंच के अनुरूप नहीं वरन् रंगमंच नाटक के अनुरूप होना चाहिए, मामा वरेरकर की बात ज्यादा व्यावहारिक लगती है। नाटक तो लेखन की ऐसी विधा है जो दृश्य होकर ही सार्थक बन पाती है अन्यथा उसकी क्या सार्थकता?"[2]

1. मादा कैक्टस : लक्ष्मीनारायण लाल : भूमिका : पृष्ठ 1
2. पश्यन्ती : धर्मवीर भारती : पृष्ठ 19

'अन्धा युग' की रचना भारती ने रंगमंच के लिए ही की, इस कारण रंगमंच ही उसकी रूप-अवधारणा का प्रेरक और नियामक बनकर हमारे समक्ष आता है। भारती ने 'अन्धा युग' के निर्देश में इस मत की पुष्टि की—"मूलत: यह काव्य रंग-मंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था। यहाँ पर उसी मूल रूप में छापा जा रहा है। लिखे जाने के बाद उसका रेडियो-रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके सम्वादों की लय और भाषा को माँजने में काफी सहायता मिली। मैंने इस बात को भी ध्यान में रखा है कि मंच-विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंच वाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।"[1]

'अन्धा युग' : काव्य-नाटक महत्वपूर्ण सम्भावना :—वस्तुत: 'अन्धा युग' ने प्रथम बार काव्य और नाटक के गहन आन्तरिक सम्बन्धों को उद्घाटित करने के साथ-साथ काव्य-नाटक के विकास के क्षेत्र में एक स्वस्थ और नवीन मोड़ उपस्थित किया। रंगमंच की समस्त विशेषताओं, काव्यत्व, नाटकत्व, जीवन से सम्बद्धता, प्रतीकात्मकता, कथा-संगठन, पात्रों के व्यक्तित्व के मार्मिक अंकन, गीत-संगीत, छन्द की नवीनता और लय, कथोपकथन की उचित संयोजना, कला की सोद्देश्यता आदि सभी मानदण्डों पर यह सशक्त तथा पूर्ण कृति है। 'अन्धा युग' ने हिन्दी नाटक ही नहीं हिन्दी रंगमंच को भी गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनों के अभिन्न सम्बन्ध को बड़ी तीव्रता से स्थापित किया है।[2]

हिन्दी रंगमंच के समक्ष एक प्रमुख समस्या प्रश्न चिह्न बनी रही है कि वहाँ कृति और रंगमंच के मध्य अस्तित्व की विभाजक रेखा खींची रही है। विशेषत: उन नाटकों के लिए जो साहित्यिक-गरिमा को अपने अन्दर समाहित किए हुए होते हैं, वे रंगधर्मिता से वंचित होते हैं किन्तु 'अन्धा युग' में काव्य के स्तर पर एक ओर गहन मानवीय सत्य को उपलब्ध किया गया तथा दूसरी ओर 'रंगमंच' के स्तर पर एक नवीन मौलिक प्रयोगात्मक शैली को अन्वेषित किया गया है।

'अन्धा युग' के मंच-विधान को भारती ने बहुत सरल बनाने का प्रयास किया है। लेखक स्वयं ही 'अन्धा युग' के मंचन के लिए पर्याप्त विस्तार से अपने मत की पुष्टि करते हुए निर्देश देता है—"समस्त कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। बीच में अन्तराल के पहले दर्शकों को लम्बा मध्यान्तर दिया जा सकता है। मंच-विधान जटिल नहीं है। एक पर्दा पीछे स्थायी रहेगा। उसके आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के प्रारम्भ में उठेगा और अंक के अन्त तक उठा रहेगा। उस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं, उनमें बीच का पर्दा उठता-गिरता रहता है। बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए। मंच की सजावट कम से कम होनी

1. अन्धा युग : भारती : निर्देश : पृष्ठ 5
2. आलोचना : जुलाई-सितम्बर 67 ; पृष्ठ 67

चाहिए। प्रकाश-व्यवस्था में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए।"[1]

लोक-नाट्य-शैली का प्रभाव—'अन्धा युग' में अंक परिवर्तन अथवा दृश्यान्तर के लिए कथा-गायन की पद्धति को भारती ने लोक-नाट्य से ही ग्रहीत किया। प्रहरियों के सम्वाद और उसकी-नियोजना ग्रीक-नाट्य मंच और ग्रीक शैली की याद दिलाते हैं। रंगमंच पर प्रकाश और पर्दों को लेकर उन्होंने जो स्फुट टिप्पणियाँ दी हैं, उनसे उनकी अभिनेयता के प्रति जागरूकता का परिचय मिलता है। प्रसंगानुसार पीछे के पर्दों को प्रकाश अथवा अन्धकार में रख कर रंगधर्मिता की उपयुक्तता के लिए दोहरे पट (ट्रांस्फर सीन) की व्यवस्था का आयोजन किया। एक ही अंक में पुनः-पुनः दृश्य परिवर्तन की प्रक्रिया से 'अन्धा युग' में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता के लक्षण आ गए। उदाहरण के लिए चतुर्थ अंक को लिया जा सकता है जिसमें चार बार दृश्य-परिवर्तन हुआ जो अभिनय की गतिशीलता और स्वाभाविकता में बाधा उपस्थित करता है।

अभिनय की दृष्टि से 'अन्धा युग' का पट-परिवेश दीर्घ नहीं। मनोवेगों को घनीभूत अवधारणा होने पर भी इसे दोष की संज्ञा नहीं दी जा सकती और इसमें आवश्यकता से अधिक पात्रों की अधिकता भी नहीं और न ही आपस में उलझे हुए प्रासंगिक कथा-वृत्त हैं। इसके परिणामस्वरूप कुशल निर्देशक को दृश्य-विभाजन के क्रम को बदलने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि काल-सूचना अथवा स्थान निर्देश में निर्देशक के कौशल की अपेक्षा के अतिरिक्त उसकी दक्षता का परिचय अनिवार्य है। इस परिप्रेक्ष्य में यह कह देना संगत है कि इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'अन्धा युग' का दृश्य-विभाजन सर्वथा दोषों से स्वतन्त्र है। कुछ दृश्यों में ध्वनि-प्रभाव को माध्यम बना कर रेडियो से तो प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु मंच पर उनका अभिनय सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम कौरव-नगरी पर लाखों गिद्धों का उड़ना, दावाग्नि का फैलना आदि दृश्यों को लेकर अपने मत को पुष्ट कर सकते है। इनके अतिरिक्त काव्यात्मकता से बोझिल कुछ स्थल विशेष जो कार्य-व्यापार की क्षिप्र गति और घनीभूत भावात्मकता से आक्रान्त होने के कारण दर्शक के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं और सर्वत्र उनकी बोध सीमाओं में नहीं आ पाते किन्तु इस सम्बन्ध में हम अपना मत दे सकते हैं कि ऐसे विशेष स्थलों पर सम्वादों की दीर्घता न होने और कार्य-गति की क्षिप्र गतिशीलता से नाटकीय औत्सुक्य में श्रीवृद्धि होने के साथ-साथ प्रभावात्मकता बनी रही। इस उलझन को सुलझाने के लिए कवि ने संवादों का आश्रय तो ग्रहण किया ही एक पात्री अभिनय का भी सफल संयोजन किया। अश्वत्थामा, वृद्धयाचक, युधिष्ठिर, संजय आदि पात्रों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जा सकता है जिनकी उद्विग्न मनःस्थिति के आरोह-अवरोह, आलोड़न-विलोड़न को भारती ने मंच पर प्रसंगानुसार एकाकी चित्रित कर उनके आत्मसंवादों का आश्रय लिया जिन्होंने उनकी व्याकुल मनःस्थिति को भलीभाँति

1. अन्धा युग : भारती : निर्देश : पृष्ठ 4

अभिव्यक्ति दी। उदाहरण के लिए भय और विकृति से युक्त रंगमंच पर धनुष मरोड़ते हुए अश्वत्थामा का आर्त्तनाद—"पुकारते हुए जाते हैं, दूर से उनकी······अन्धेरा—केवल एक प्रकाशवृत अश्वत्थामा पर, जो टूटा हुआ धनुष हाथ में लिये बैठा है······

"यह मेरा धनुष है

× ×

धनुष मरोड़ा है
गर्दन मरोडूंगा
छिप जाऊं, उस झाड़ी के पीछे।"[1]

इसी प्रकार पृष्ठ 40, 104, 105, 121 से अन्य उदाहरण लिए जा सकते हैं। इन मनः-स्थितियों के क्षणों में जीना पात्रों के लिए कठिन हो सकता है किन्तु इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए कि अभिनय की सफलता का मेरुदण्ड निर्देशक और पात्रों पर ही आश्रित नहीं होता, वरन् नाट्य-वस्तु और नाट्य-शिल्प भी नाटक की सफलता की आधारभूमि होती है और यह भी आवश्यक नहीं कि सब नाटकों का अभिनय करने के लिए एक ही विधि को अपनाया जाए और वे एक ही ढंग से सफलता का आलिगन कर ले। "नाटक के अभिनय में केवल निर्देशक और पात्रों की कला ही सब कुछ नहीं होती, नाटक का विषय, मूल भाव और शैली भी रंगमंच की प्रस्तुतिकरण विधि को प्रभावित करते हैं।"[2] रंगमंच की कसौटी पर किसी कृति को अभिनय द्वारा परखने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा निर्देशित सभी दृश्यों और रंगसंकेतों का यथावत् निर्वाह आवश्यक है—कृति के मूल उद्देश्य और उसके सार प्रभाव को बिना किंचित हानि पहुंचाए निर्देशक उसको मंचित करने के लिए मंचानुसार यथोचित परिवर्तन कर सकता है। किन्तु इन परिवर्तनों को कृति के अभिनेय और अनभिनेय के लिए आधार मान लेना अज्ञानता का परिचय देना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में इस बात पर गंभीर विचार अपेक्षित होता है कि क्या कृति-विशेष में अभिनय के सार्थक तत्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर उसे मंचित करने में सफलता पाई जा सकती है। जहाँ तक 'अन्धा युग' के अभिनय और मंचित करने का प्रश्न है, इसमें कौरव-पाण्डव युद्ध के गहन-वातावरण और उससे उदित परिणामों को दृष्टिपथ में रखते हुए नवीन-दृष्टिकोण और मौलिकता का आश्रय लेकर विश्लेषित मूल्यांकित किया गया है, अतः वस्तु-शिल्प पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह काव्य-नाटक रंगमंच की प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है और यत्किंचित् परिवर्तन करने के उपरान्त निर्देशक के कौशल और जागरूक सहयोग से इसके अभिनय को मंच पर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रंग-संकेतों की सार्थकता—'अन्धायुग' में भारती ने पर्याप्त रंग संकेत दिए हैं जो

1. अन्धा युग : भारती ; पृष्ठ 33, 34, 35, 36
2. शोध और समीक्षा : डा० सुरेशचन्द्र गुप्त ; पृष्ठ 49

मंच पर अभिनय और रेडियो से प्रसारित होने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। प्रायः पात्रों की वेशभूषा के विषय में अधिक संकेत न देकर भी भारती ने रंग संकेतों की योजना से पात्रों की उद्विग्न मनःस्थितियों, चेष्टाओं और भाव-भंगिमाओं को समझने में तो सरलता है ही किन्तु इन रंग संकेतों से मंच को एक अन्य महत्वपूर्ण लाभ है कि यह मंच की क्रियाशीलता को जीवित रखने में सहायक है। इसके प्रमाण के लिए उदाहरण के रूप में हम पात्रों की क्रियाओं को उद्धृत कर सकते हैं, जैसे—सहारा लेकर चलना, सैनिक का घिसटते हुए आना, संकेत से पानी माँगना, हाँफना, आँख मूँद कर लेट रहना इत्यादि।[1] इसी प्रकार उलूक और कौए से सम्बद्ध प्रासंगिक घटना को भारती ने दीर्घ रंग-संकेत के रूप में प्रस्तुत कर रोमांचकारी वातावरण उपस्थित कर दिया—"धीरे-धीरे स्टेज पर अन्धेरा होने लगता है। वन में सियारों का रोदन। पशुओं के भयानक स्वर बढ़ते हैं···एक प्रकाश अश्वत्थामा पर भी पड़ता है जो स्तब्ध कौतूहल से इस घटना को देख रहा है।···कौआ एक बार अलसायी करवट लेता है और उलूक को देखकर बिना ध्यान दिए सो जाता है। उलूक पहले सहम जाता है; ···फिर सहसा उस पर टूट पड़ता है। भयानक-रव, कोलाहल, चीत्कार। दोनों गुंथे रहते हैं। बिल्कुल अन्धकार। फिर प्रकाश। कौए के कुछ टूटे हुए पंख और उलूक के पंजे रक्त में लथपथ। उलूक उन पंखों को उठाकर नृत्य करता है। वधोल्लास का ताण्डव। एक प्रकाश अश्वत्थामा पर। सहसा उसकी मुखाकृति बदलती है और वह जोर से अट्टहास कर पड़ता है। उलूक घबराकर रुक जाता है। देखता है अश्वत्थामा अट्टहास करता हुआ उसकी ओर बढ़ता है। उलूक कटे पंख उसकी ओर फेंक कर भागता है। अश्वत्थामा कटा पंख हाथ में लेकर उल्लास से चीखता है।"[2]

कृति के प्रारम्भ में नर्तक के द्वारा नैपथ्य को उद्घोषणा के क्षणों में विभिन्न प्रकार की भाव-मुद्राओं का प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है कि भारती ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना का भी पर्याप्त ध्यान रखा है "···इस नैपथ्य से उद्घोषणा तथा मंच पर नर्तक के द्वारा उपयुक्त भावनाट्य का प्रदर्शन। शंख-ध्वनि के साथ···उद्घोषणा के साथ-साथ उसकी मुद्राएँ बदलती जाती हैं।"[3]

शिल्प-प्रयोग को सशक्त बनाने के लिए कवि ने शब्दों और वाक्यों के पुनर्पुनः प्रयोग का आश्रय लेकर जिज्ञासा-कौतूहलवर्द्धक वातावरण को बनाए रखा। उदाहरण के लिए यहाँ पर हम गान्धारी की उक्ति को अंकित कर सकते हैं—

"फिर क्या हुआ ?
संजय। फिर क्या हुआ ?"[4]

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 48, 49
2. वही : पृष्ठ 68, 69
3. वही : पृष्ठ 9
4. वही : पृष्ठ 79

संवादों की मंचोपयुक्तता—'अन्धा युग' की अभिनेयता विषयक विचार-विश्लेषण में संवादों की सार्थकता और रंगधर्मिता को विश्लेषित करना भी आवश्यक एवं अपेक्षित प्रतीत होता है। भारती ने मनोवेगों और मनःस्थितियों की तीव्र व्यंजना की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए अल्प-विस्तार, वाक्य-विन्यास की संक्षिप्तता, प्रश्नवाचक उक्तियों, विस्मयादि बोधक वक्तव्यों आदि को माध्यम रूप में ग्रहण किया। कहना न होगा कि 'अन्धा युग' के संवाद गत्वर, प्राणवान और अपने अन्दर सशक्तता को छिपाए हुए हैं। 'अन्धा युग' के पट-परिवेश में व्याप्त सर्वत्र अनास्था, कुण्ठा, शोक और आक्रोश से अनुरूप ही कहीं तो संवाद संक्षिप्त होकर स्वाभाविकता का परिचत देते हैं और कहीं यही संवादों की संक्षिप्तता विशृंखल शब्द-विन्यास के रूप में अभिव्यक्त हुई है। कथोपकथन को सशक्तता और समता प्रदान करने के लिए कवि ने कहीं तो शब्द-विशेष, शब्द-समूह अथवा पंक्ति विशेष को आश्रय बनाया और कहीं सूक्ति गाम्भीर्य के भावाविष्ट उक्तियों का शृंगार किया। तो कहीं अर्थगर्भ मौन को मानदण्ड बनाकर कुछ विशेष स्थलों पर भावावेगों को तीव्र और सक्षम अभिव्यक्ति देने के लिए उक्तियों को अपूर्ण ही छोड़ दिया। अश्वत्थामा की पाण्डव-वंश को जड़ से निर्मूल करने की दृढ़-प्रतिज्ञा—

"हाँ, बिलकुल वैसे ही
जब तक निर्मूल नहीं कर दूंगा
मैं पाण्डव वंश को..."[1]

और उसी के विषय में गान्धारी की छटपटाहट से भरी कलकती तीव्र जिज्ञासा—

"पत्थर की खानों से मणियाँ निकलती हैं
बाधा मत डालो विदुर
संजय फिर..."[2]

आदि के प्रसंग में"...."पद्धति का प्रयोग इसी शैली के उदाहरण माने जा सकते हैं।

संवादों में प्रखरता को वाणी देने के लिए भारती ने पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, आरोह-अवरोह, आलोढ़न-विलोढ़न अथवा अन्तःसंघर्ष के संकल्प-विकल्प को मूर्त्त रूप में अभिव्यक्ति देने की ओर भी उपयुक्त स्थान देकर उनकी मनःस्थितियों को चित्रित करने की चेष्टा की। उद्धरण के रूप में विदुर द्वारा संजय के स्थान पर स्वयं एक स्थल पर युद्ध की सूचना देना—

"संजय नहीं, मुझ से सुनो...
.. स्त्रियाँ जहाँ थी वहीं कुचल गई...
पाण्डव शिविरों में लगा दी आग।"[3]

1. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 62
2. वही : पृष्ठ 80
3. वही : पृष्ठ 80

इसी प्रकार गान्धारी और अश्वत्थामा के वचन-वैदग्ध्य को लिया जा सकता है। तीव्र व्यंग्य को अपने गर्भ में समेटे हुए इन पात्रों के संवाद ओजपूर्ण एवं मंच के उपयुक्त हैं। युद्ध के सूर्य के अस्त हो जाने पर कृतवर्मा का कौरवों की नियति पर तीव्र व्यंग्य युद्ध से लौटने पर गान्धारी द्वारा युयुत्सु के मर्म को छलनी करने वाला कटु व्यंग्य से पूर्ण साधुवाद—

> "बेटा,
> भुजाएँ ये तुम्हारी, थकी तो नहीं···
> अपने बन्धुजनों का
> वध करते-करते ?···"1

विदुर और गान्धारी का व्यंग्य-वैदग्ध्य संवाद, चट्टानी यथार्थ पर जीवन जीनेवाले प्रहरियों की यथार्थ से प्रेरित व्यंग्य से भरपूर उक्तियाँ"2 इत्यादि ऐसे प्रसंग हैं जिससे इस काव्य-रूपक के मंचित होने पर सफल एवं सजीव अभिनय में विश्वासपूर्वक सहायता मिलेगी।

पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल उठते-गिरते संवादों ने 'अन्धा युग' के अभिनय को सरल बनाया है जिससे कहीं पर एक रसता का दोष भी नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरण के लिए भारती ने उद्बोधन, दार्शनिकता, कटुता आदि अभिव्यक्ति को वाणी देने के लिए जिन संवादों को सहायक बनाया है और इनके आधार पर प्रभाव-वैविध्य की योजना की हैं, उससे ऐसा ही ध्वनित होता है। इस उद्देश्य की सफलता में संवादों का उत्तर-प्रत्युत्तर के स्वाभाविक क्रम ने भी अपनी सार्थक कड़ियाँ जोड़ी हैं। नाटकीय औत्सुक्य के विधान को सजीव और स्वाभाविक बनाने के लिए भारती ने पात्रों की स्वगत-उक्तियों, व्यास की आकाशवाणी, वृद्ध याचक और युयुत्सु जैसे प्रेतात्मा-पात्रों के कल्पित संवादों का भी आश्रय ग्रहण किया और संवादों को माध्यम बनाकर कहीं-कहीं उन्होंने कथागति को तीव्र गतिशीलता प्रदान की।

इतना विचार-विश्लेषण करने के उपरान्त भाषा के विषय में भी चर्चा करनी आवश्यक है कि 'अन्धा युग' की भाषा इसके मंच पर अभिनय में कहाँ तक साधक है और कहाँ तक बाधा उपस्थित करेगी। वस्तुतः 'अन्धा युग' की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट अवश्य है किन्तु प्रायः सभी स्थलों पर व्यावहारिकता से सम्पुष्ट एवं सरलता और प्रवाहात्मकता को लिए हुए है। मंच पर अभिनय के लिए इसकी भाषा आवश्यकतानुसार लयात्मकता, आवेग-प्रवेग, आरोह-अवरोह आदि को अपनी क्रोड़ में समेटे हुए है जिसके कारण इसकी भाषा में पर्याप्त नाटकीय सघनता और स्तरानुरूप साहित्यिक गुण विद्यमान है।

3. अन्धा युग : भारती : पृष्ठ 55, 56
4. वही : पृष्ठ 40, 80, 16, 107, 108

भारती ने अपने निबन्ध संग्रह 'पश्यन्ती' में 'अन्धा युग' के सफल रेडियो-रूपान्तर और इसकी सफल मंचीयता के विषय में विस्तृत और ठोस चर्चा की। उन्होंने लिखा—'अन्धा युग' की मूल पाण्डुलिपि के समस्त मंच-संकेतों के साथ दृश्य-काव्य के रूप में ही लिखी गयी थी। आकाशवाणी के उपयुक्त वह हो सकती है इसका दूर-दूर तक ख्याल नहीं था। एक दिन जब श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रस्तावित किया कि इसे वे आकाशवाणी पर प्रस्तुत करना चाहते हैं और स्वयं इसका निर्देशन करेंगे तो मुझे आश्चर्य हुआ।...जिस दिन रेडियो पर पहली बार 'अन्धा युग' प्रसारित हुआ, तमाम लोग रेडियो खोले बैठे थे और मैं अपनी साइकिल लिए अंधेरी सड़कों पर भटक रहा था। मेरी हिम्मत नहीं थी कि मैं उसका प्रसारण सुनूं। अगर कहीं नितान्त असफल हुआ तो? जिन पात्रों और प्रसंगों और संवादों को मैंने...लेकिन साढ़े ग्यारह बजे रात को पता चला कि 'अन्धा युग' अप्रत्याशित रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।...दूसरे दिन गोपालदास जी के कमरे में बैठ कर पूरा रेकार्डेड टेप सुना और उस ध्वनि-नाट्य का अश्वत्थामा सारी घृणा को एक नया आयाम देता हुआ लगा। अश्वत्थामा की आवाज...अपने सधे, गम्भीर संयमित कंपने वाले स्वर के द्वारा गोपालदास ने अश्वत्थामा की घृणा की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी उससे लगा कि अगर अनासक्त युद्ध के दार्शनिक कृष्ण हैं तो अनासक्त विक्षोभ का प्रणेता अश्वत्थामा है।"[1]

ध्वनि या टोन का प्रसंगानुकूल उठना-गिरना 'अन्धा युग' की अभिनयात्मक सफलता का एक मुख्य आधार है, यह स्वतः सिद्ध है ही कि रेडियो से अभिनीत होने वाले नाटक के लिए ध्वनि या टोन सर्वाधिक महत्व की वस्तु होती है। 'अन्धा युग' की मंचीयता के सम्बन्ध में भारती अपने विचार व्यक्त करते हैं"...और वर्षों बाद की बात। अलकाज़ी के खुली छत वाले मंच पर सत्यदेव दुबे द्वारा 'अन्धा युग' का बिलकुल नये ढंग से प्रस्तुतिकरण। छत पर अन्धेरा है, दर्शक सीढ़ीनुमा सीटों पर खामोश बैठे हैं और बहुत हलके आलोक में एक पेड़ के सूखे तने के पास एक कांपता हुआ तीखी झकोर वाला प्रबल स्वर—'मैं क्या करूंगा? हाय मैं क्या करूंगा? वर्तमान को जिसमें मैं हूं और मेरी प्रतिहिंसा है?' और अश्वत्थामा का यह मर्मस्पर्शी स्वर दर्शकों को झकझोर जाता है। और एक के बाद एक प्रसंग—टूटे हुए धनुष के पास बैठा हुआ अश्वत्थामा, वृद्ध याचक की हत्या प्रयास के बाद उसका कृपाचार्य से पूछना, 'मैंने क्या किया मातुल?'...नाटक समाप्त होने के बाद भी जैसे अश्वत्थामा के संवाद अन्धेरे में प्रेत की तरह चीत्कार करते छूट जाते हैं।...[2]

'अन्धा युग' की इस मंचीय सफलता ने दर्शकों को इस सीमा तक अभिभूत कर

1. पश्यन्ती : धर्मवीर भारती : पृष्ठ 13, 14, 15
2. वही : पृष्ठ 15

लिया था कि दो वर्ष बाद थियेटर यूनिट ने उसे पुनः मंचित किया। डा० भारती के ही शब्दों में—'दो वर्ष बाद जब थियेटर यूनिट ने पुनः 'अन्धा युग' के प्रस्तुतिकरण की तैयारी शुरू की···अश्वत्थामा मंच पर आया तो वह अन्दर से बेहद भरा हुआ था, इस कदर लगता था कि संवाद के शब्द उसके लिए यथेष्ट नहीं पड़ रहे और कथ्य इस कदर तेज···सारी खीज, विक्षोभ, घृणा, तैस और छटपटाहट एक अन्याय पीड़ित पात्र की ही नहीं, एक बहुत अनुत्तरित प्रश्न की है···।"[1]

'अन्धा युग' की मंचीय सफलता के मूल्यांकन में हम पुनः पुनः अपने मत को पुष्ट करने के लिए विद्वानों के विचार उद्धृत कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में श्री देवेन्द्र इस्सर का कथन कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होने लिखा—"सन् 1963 में दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खण्डहर और प्रकृति के मिले-जुले प्रभाव से रचित रंगमंच पर जब 'अन्धा युग' प्रदर्शित किया गया तो यह आशा प्रबल हो उठी कि शायद हिन्दी में आधुनिक नाटक का सूत्रपात हो उठा है। नाटक कुछ वर्ष पूर्व तक पाठ्य पुस्तकों के पृष्ठों में ही बन्द रहा और किसी हद तक अब भी है। नाटक का अर्थ अधिकतर एकांकी ही रहा है या रेडियो द्वारा प्रसारित नाटक, जिनमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन कर के उन्हें रंगमंच के लिए उपयुक्त बना दिया जाता था। एक सुदृढ़ और सुसंगठित व्यवसायी अथवा अव्यवसायी रंगमंच के अभाव में ऐसे नाटक अधिकतर स्कूलों और कॉलेजों के मंचों पर ही खेले जाते थे या कोई मण्डली शौकिया तौर पर उनका प्रयोग कर लेती थी। कुछ बड़े नगरों को छोड़ कर उस स्थिति में अब भी कोई मूलभूत परिवर्त्तन या सुधार नहीं हुआ है। फिर भी धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' से मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' तक हिन्दी नाटक के विकास की नवीन सम्भावनाओं को इंगित करता है।"[2] अभिनयात्मक सफलता के कारण ही श्रीकृष्ण सिहल ने 'अन्धा युग' को 'हिन्दी व गीति-नाटय साहित्य की एक विशिष्ट कृति' बताया है।[3] यहाँ तक आने के बाद एक बार पुनः हम डा० भारती के निबन्ध संग्रह 'पश्यन्ती' की ओर मुड़ते हैं। भारती के ही शब्दों में—'···हिन्दी के गम्भीर नाट्य-लेखन पर अन-अभिनेयता के व्यापक आरोप को खण्डित किया और जैसा अल्काजी के 'अन्धा युग' के प्रदर्शन पर उत्साहित होकर हमारे लगभग एकमात्र जागरूक आधुनिक नाट्य-समीक्षक सुरेश अवस्थी ने लिखा था, 'यह आशा लगने लगी कि एक दिन प्रसाद के नाटकों को भी उचित संशोधन के साथ रंगमंच पर लाने का सफल प्रयास कोई कर सकेगा।"[4]

1. पश्यन्ती : धर्मवीर भारती : पृष्ठ 15, 16
2. आजकल : जनवरी 1971 : पृष्ठ 23
3. हिन्दी गीति नाट्य : कृष्ण सिंहल : पृष्ठ 125
4. पश्यन्ती : डा० धर्मवीर भारती : पृष्ठ 114

उपरोक्त परिशीलन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि लेखक ने 'अन्धा-युग' को अभिनय और मंच पर मंचित करने की दृष्टि को लेकर ही बड़े मनोयोग से इसकी रचना की और इसकी अभिनेयता संदिग्ध नहीं है क्योंकि इसका सफल अभि-नय और मंचन हो चुका है। 'अन्धा युग' जैसे नाटकों की परम्परा की विकास-प्रक्रिया के अंकुर अभी हिन्दी में फूटे ही हैं। किन्तु अन्धा युग को सफल रेडियो रूपान्तर और मंचाभिनय ने निस्सन्देह ऐसी कृतियों के लिए एक बाधा रहित मार्ग प्रशस्त करते हुए इनकी प्राणवत्ता को सहज ही सिद्ध कर दिया है।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

ऐतिहासिक पौराणिक काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के कथास्रोत पर जिस दृष्टि से विचार किया जाता रहा है, 'अन्धा युग' पर उस दृष्टि से विचार करना सम्भवत: बहुत संगत नहीं है। पहले तथ्यात्मक दृष्टि से विचार अधिक होता रहा है जो कृति की घटनाओं के प्रमाण प्रस्तुत करते रहे हैं। 'अन्धा युग' की घटनाओं के लिए तथ्यात्मक प्रमाण प्रस्तुत करना बहुत महत्व नहीं रखता। महाभारत के युद्ध की घटना को 'अन्धा युग' में एक विराट मिथकीय अभिप्राय के रूप में ग्रहण किया गया है, मात्र ऐतिहासिक तथ्यात्मकता के रूप में नहीं। यह अभिप्राय अनेक स्तरों पर आज के यथार्थ को प्रतिफलित करता है। कथा-स्रोत पर विचार करते समय तथ्यात्मकता की अपेक्षा मेरे समक्ष यही तत्व महत्वपूर्ण रहा है।

आज की किसी भी रचना को समझने के लिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता-बोध को समझना होगा। इसी बोध के द्वारा रचनाशीलता सक्रिय होती है और इस बोध के समानान्तर विकसित समझ वाले सहृदय के समीप रचना का अर्थ खुलता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मैंने ऐतिहासिक परिपार्श्व में आधुनिकता को समझने की चेष्टा कर 'अन्धा युग' की रचनाशीलता और रचनादृष्टि पर विचार किया है।

आधुनिकता और आधुनिक विचारधाराओं की भूमिका, विघटन और आन्तरिकता की खोज और आधुनिकता और समसामयिकता पर विचार करते हुए 'अन्धा-युग' पुराण-कथा और युग-बोध के संघात से विकसित सर्जनात्मक उन्मेष और संवेदना के नूतन धरातल का विश्लेषण किया है।

संवेदना और बोध की नूतनता प्रारूप की नवीनता भी उत्पन्न करती है 'अन्धा युग' के प्रारूप को निश्चित रूप से केवल परम्परागत मानदण्डों के आधार पर नहीं परखा जा सकता। फिर भी अपने अध्ययन में दिशा पाने के लिए मैंने काव्य-नाटक, गीति-नाट्य, नाटकीय कविता आदि के प्रचलित प्रारूपों का विवेचन विश्लेषण कर, 'अन्धा युग' की प्रारूपगत विशेषताओं का उद्घाटन करने का प्रयास किया है।

प्रतीक, नये अर्थ की सम्भावना का कलात्मक उपकरण है। आधुनिक रचना का यह प्रमुख उपकरण है। 'अन्धा युग' की समग्र बनावट में प्रतीक अनुस्यूत है। प्राचीन घटनाओं और मनःस्थितियों के साथ आधुनिक युग की विभिन्न समानान्तरता है। यह समानान्तरता 'अन्धा युग' की रचनात्मकता को प्रतीकात्मक बना देती है। जो एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य में प्रवेश कर सकती है या यों कह सकते हैं कि काल के इन स्थूल विभागों को एक धुरी पर बाँध देती है। चरित्र, घटनाएँ, कथा की बनावट और उसके प्रभाव आदि सब में प्रतीक समाया हुआ है। 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता की चर्चा करते हुए ज्वालाप्रसाद खेतान ने अपनी पुस्तक 'सृजन के आयाम' में लिखा है, 'अन्धा युग' के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट् मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रह कर 'अन्धा युग' मानव-मन के अन्तर्जगत का महाकाव्य बन गया है।" 'अन्धा युग' में प्रतीकात्मकता के स्वरूप को चौथे अध्याय में समझने का प्रयत्न किया गया है।

'अन्धा युग' की पात्र परिकल्पना जटिल है। पात्र पौराणिक हैं, लेकिन आधुनिक प्रासंगिकता लिए हुए। उसमें मनोवैज्ञानिक और मिथकीय धारणा का योग है। युग के ह्रासोन्मुख संदर्भ ही पात्रों का स्वरूप और उनकी प्रासंगिकता निर्मित करते हैं। इस प्रकार चरित्र-चित्रण के स्थान पर पात्र-कल्पना की धारणा पर विचार करना इस अध्ययन में अधिक युक्तिसंगत समझा गया है।

'अन्धा युग' की भाषा बड़ी सहज लेकिन बड़ी टेढ़ी है। उसकी सहजता एक रचनात्मक छल है जो आज के जीवन और यथार्थ के असहज और जटिल अन्तर्विरोध को उभार करने में समर्थ है। भाषा संवेदना की व्यक्त बनावट (Structure) है और 'अन्धा युग' में संवेदना की यह बनावट ऊपर से सहज पहचानी लगती है किन्तु कहीं भीतर से बड़ी गहन है और जो अतिरिक्त समझ की मांग करती है। भाषा की इसी बनावट को मैंने विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है।

'अन्धा युग' का सफल मंच प्रस्तुतीकरण कई बार हो चुका है। स्वयं लेखक ने तीन प्रस्तुतियों में अपनी ही कृति के तीन अर्थ स्तरों को अलग से पाया है (पश्यंती) इससे प्रतीत होता है कि 'अन्धा युग' में अनेक तरह से रंगमंचित होने की सम्भावनाएं विद्यमान हैं। इस रंगमंचीय सम्भावना के कारण ही नाटक जीता है और वही उसकी वास्तविक सर्जनात्मक फलश्रुति है। मंचीय सम्भावना के इन आयामों पर इस अध्ययन में मेरा ध्यान अधिक रहा है।

समाहारात्मक रूप में 'अन्धा युग' का सम्पूर्ण परिशीलन करने के उपरान्त लेखक के अनुसार 'अन्धा युग' अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा है। नैतिक मूल्यों

से कुण्ठित, स्वार्थान्ध, मर्यादाहीन उस युग को युद्ध की दारुण विभीषिका में भस्मित करने के पश्चात् आस्था, विश्वास और सृजन की कसौटी पर कुन्दन बनी जो चेतना कृष्ण के व्यक्तित्व से उद्भासित होकर विकीर्ण होती है वही इस नाटक का केन्द्रीय भाव, उद्देश्य है। उद्देश्य की प्रतीकात्मकता ने तृतीय विश्वयुद्ध की त्रासदायक स्थितियों और द्वन्द्वों के मध्य चल रहे वर्तमान युग को ज्योति और विश्वास देने का प्रयास किया है।

किन्तु अन्ततः विनम्र शब्दों में यही कहूँगा कि इन अध्यायों में विभक्त मेरे अध्ययन के निष्कर्ष भी वस्तुतः सम्भावनाएँ ही हैं, अन्तिम और स्थापित सिद्धान्त नहीं। निष्कर्ष से अधिक मेरा अध्ययन—विश्लेषणपरक है और विश्लेषणपरकता में अपेक्षाकृत खुलापन होने के कारण बंधने का अवकाश कम होता है और मेरी रुचि इसी खुलेपन की ओर रही है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

1. वेद व्यास — महाभारत : चतुर्थ भाग : प्रथम संस्करण ख्रिस्ताब्दा : 1931 चित्रशाला प्रेस पूना।

कोश-ग्रन्थ

1. प्रधान सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी साहित्य कोश (भाग—1) द्वितीय संस्करण ज्ञानमण्डल : वाराणसी।

हिन्दी

1. अज्ञेय : आत्मनेपद : प्रथम सं० 1960 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
2. ,, नदी के दीप : तीसरा सं० 1971 : सरस्वती प्रेस : इलाहाबाद।
3. सम्पादक अज्ञेय : तारसप्तक : तीसरा सं० 1970 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
4. ,, : दूसरा सप्तक : दूसरा सं० 1970 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
5. डा० कुमार विमल : अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य : प्रथम संस्करण 1956 : पराग प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. कृष्ण सिंहल : हिन्दी गीति-नाट्य : प्रथम सं० 1964 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
7. डा० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : प्रथम सं० 1963 : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
8. गिरजाकुमार माथुर : नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ : प्रथम सं० 1966 : अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

9. डा० गिरीश रस्तोगी : हिन्दी नाटक—सिद्धान्त और विवेचना : प्रथम सं० 1967 : ग्रंथम् प्रकाशन, कानपुर ।

10. डा० गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : प्रथम सं० 1965 : सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा ।

11. ज्वाला प्रसाद खेतान : सृजन के आयाम : प्रथम संस्करण 1961 : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर ।

12. जयदेव तनेजा : समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि : प्रथम सं० 1971 : सामयिक प्रकाशन ।

13. डा० देवीशंकर अवस्थी (सम्पा) : विवेक के रंग : प्रथम सं० 1965 : भारतीय ज्ञानपीठ प्र० ।

14. डा० धर्मवीर भारती : सातगीत वर्ष : द्वितीय संस्करण 1964 : भारतीय ज्ञानपीठ प्र० ।

15. ” ” : ठण्डा लोहा : द्वितीय संस्करण 1970 : भारतीय ज्ञानपीठ प्र० ।

16. ” ” : कनुप्रिया : तीसरा संस्करण 1966 : भारतीय ज्ञानपीठ प्र० ।

17. ” ” : पश्यन्ती : प्रथम संस्करण 1969 : भारतीय ज्ञानपीठ प्र० ।

18. ” ” : मानवमूल्य और साहित्य : प्रथम सं० 1960 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

19. ” ” : अंधायुग : द्वितीय संस्करण 1967 : किताब महल, इलाहाबाद ।

20. डा० नगेन्द्र : आस्था के चरण : प्रथम संस्करण 1968 : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

21. ” : नयी समीक्षा : नये संदर्भ : प्रथम संस्करण 1970 : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

22. ” : आधुनिक हिन्दी नाटक : नवीन सं० 1970 : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

23. डा० निर्मला जैन : आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ : प्र० सं० 1963 : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

24. प्रतापनारायण टण्डन : साहित्यिक निबन्ध : प्रथम सं० : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

25. डा० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : प्रथम सं० 1958 : साहित्य भवन इलाहाबाद ।

26. महादेवी वर्मा : यामा : तृतीय सं० संवत् 2008 : भारती भण्डार, इलाहाबाद ।

27. मैथिलीशरण गुप्त : जयभारत : प्रथम सं० : साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) ।

28. डा० महेन्द्र भटनागर (सम्पा०) : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : प्रथम सं० 1969 : नवभारती प्रकाशन ।

29. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन : प्रथम सं० 1960: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

30. „ „ : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : प्रथम सं० 1968 : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

31. रामधारी सिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र : सोलहवाँ सं० 1965 : उदयाचल, पटना-4 ।

32. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी कविता : तीन दशक : प्रथम सं० 1969 : ज्ञानभारती प्रकाशन ।

33. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान : 1, श्रावण 2014 : भारतीय प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद ।

34. डा० लक्ष्मीनारायण लाल : रंगमंच और नाटक की भूमिका : प्रथम सं० 1965 : नेशनल पब्लिशिंग हाउस ।

35. „ „ : मादा कैक्टस : प्रथम संस्करण 1959 : राजकमल प्रकाशन ।

36. डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य प्रथम सं० 1968 : विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी ।

37. डा० शंकरदेव अवतरे : हिन्दी साहित्य में काव्य-रूपों का प्रयोग : प्रथम सं० 1960 : राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।

38. डा० श्यामनन्दन किशोर : आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान : प्रथम सं० 1963 : सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा ।

39. शम्भूनाथ चतुर्वेदी : नया हिन्दी काव्य और विवेचना : प्रथम सं० 1964 : नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी ।

40. डा० सुरेशचन्द्र गुप्त : शोध और समीक्षा : प्रथम सं० 1967 : रवीन्द्र प्रकाशन ।

41. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : आधुनिक साहित्य बोध (एक परि-सम्वाद) : प्रकाशक-शिक्षयतन कॉलेज कलकत्ता ।

42. डा० श्री पति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : प्रथम सं० 1961 : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

सहायक ग्रन्थ-सूची (अंग्रेजी)

1. Shorter oxford Dictionary (Adppted by : H. W. Fowler and F. G. Fowler) : Oxford University Press, Amen House, London E. C. A.

2. T. S. Eliot Poetry and Drama : Faber and Faber Limited : London.

3. " Selected Prose : Faber and Faber Limited : London.

4. " Selected Essays : Faber and Faber Limited: London.

5. " Essays of Drama : Faber and Faber Limited : London.